ॐ ओ३म ॐ

* गीतामृत *

गीता के श्लोक-अनुवाद और उन पर विचार

लेखक--

भाई परमानन्द एम. ए.

1825
18/11/25

प्रकाशक--

राजपाल—प्रबन्धकर्त्ता

सरस्वती आश्रम, लाहौर ।

आश्विन सं० १९७८ वि०

पब्लिकेशनल प्रिण्टिङ्ग वर्क्स, लाहौर ।

प्रथमवार २००० मूल्य १॥) सजिल्द २)

गीतामृत

देवता स्वरूप भाई परमानन्द जी एम. ए.

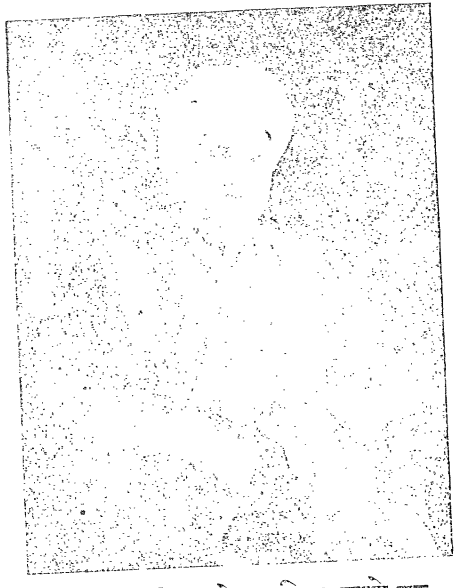

अमरीका से वापिस आने पर

हिन्दी प्रेस हौस्पीटल रोड, लाहौर।

काले पानी से वापिस आने पर

सरस्वती आश्रम, लाहौर

वक्तव्य ।

प्रस्तुत पुस्तक उर्दू भाषा में छपने पर कई एक सहृदय हिन्दी प्रेमी महानुभावों ने इस बात का अनुरोध किया कि हिन्दी में भी इस का होना अनिवार्य्य है, अतएव उन की इच्छा पूर्ति के लिये इस पुस्तक को हिन्दी भाषा में छापने का अधिकार महाशय राजपाल जी मैनेजर सरस्वती आश्रम को दे दिया ।

इस पुस्तक का अनुवाद महाशय देशराज जी ने बड़े परिश्रम और उत्तमता के साथ किया है, तदर्थ राष्ट्र भाषा प्रेमियों को उन का कृतज्ञ होना चाहिये । अनुवाद श्लोकों के अन्वय क्रम के अनुसार किया गया है, यद्यपि संक्षिप्त है, तथापि भाव पूर्ण श्लोकों का आगया है । आशा है कि एतद्विषयक प्रेमी महानुभावों का इस से परितोष होगा और प्रस्तुत पुस्तक स्वाध्याय में उपयोगी सिद्ध होगी ।

परमानन्द

॥ ओ३म् ॥

भूमिका ।

यह नोट आण्डमान जेल में रहते हुए स्मरणार्थ रखे गए। यह एक विचार क्रम था जो कि बारम्बार मेरे चित्त में आता था। मेरा विचार था कि यदि मेरे शरीर त्याग देने के पश्चात् यह किसी योग्य पुरुष के हस्तगत हो जावेंगे तो वह उन्हें छपा कर प्रकाशित कर देगा। समय में परिवर्तन आया और मुझे स्वयमेव उन को प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ। तथापि मैंने उन के अन्दर कोई परिवर्तन करना उचित न समझा और वे यथातथ्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिये हैं। एक प्रकार से यह सब विचार मेरे अन्तिम समय के हैं जब कि मैं समझ चुका था कि मेरा संसार से कभी सम्बन्ध न होगा। यद्यपि इन में लेख की प्रवृत्ति अद्वैत की ओर प्रतीत होती है, तो भी मैं इतना कहना आवश्यक समझता हूं कि अब भी मैं स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तों को ठीक मानता हूं।

परमानन्द

ओ३म्

गीता अमृत।

गीता का महत्व।

१–अपनी विद्यार्थी अवस्था के पश्चात् मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि वह कौन सी पुस्तक है जिसे मैं अपने स्वाध्याय के लिये प्रत्येक समय अपने साथ रख सकता हूं। कार्लायिल की पुस्तक "सार्टर रिसौर्ट्स" ने मेरे चित्त में इतना प्रभाव डाला था कि मेरी उस में ही रुचि हो गई। कुछ काल व्यतीत हो गया जब कि मुझे पढ़ने का यह अवसर प्राप्त हुआ कि किसी समय अमरीका का एक प्रसिद्ध व्यक्ति ऐमर्सन कार्लायिल के दर्शनार्थ गया, चलते समय कार्लायिल ने गीता की एक प्रति उस को भेंट की। इस बात ने मेरे अन्दर यह तरङ्ग पैदा कर दी कि मैंने सार्टर रिसौर्ट्स को परे रख दिया और उस का स्थान भगवद्गीता को दे दिया।

२–आर्यजाति का प्रत्येक बालक गीता के नाम से अभिज्ञ है। भारतवर्ष में जितनी भिन्न२ आवृत्तियें इस पुस्तक की छपी हैं अन्य किसी की नहीं। और जितना स्वाध्याय इस पुस्तक का किया जाता है इतना किसी और का नहीं। आर्यजाति के पुराने विद्वानों में कदाचित् ही कोई ऐसा लेखक होगा जिसने गीता पर अपनी टीका न लिखी हो।

वर्तमान काल में भी बहुत से महाशयों ने देश की भिन्न २ भाषाओं में गीता पर टीकायें की हैं। विदेशी भाषाओं में कदाचित् ही कोई भाषा होगी जिस में गीता का अनुवाद विद्यमान् न हो।

गीता विदेशी विद्वानों में।

३-मुसलमानों में सब से पहिला पुरुष जिसका ध्यान गीता की ओर आकर्षित हुआ बुखारा का राजपुत्र ऐलबरूनी था जिसे महमूद गजनवी ने कारागृह में रखा हुआ था। भारतवर्ष पर आक्रमणों के समय भी वह उसे अपने साथ रखता था। ऐलबरूनी ने संग्रामों के मध्य में बड़ी २ कठिनाइयां सहकर संस्कृत को पढ़ा और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "इण्डिया" में जो कि उस समय के भारत का एक चित्र है गीता के श्लोकों का प्रति लेख किया। उस ने अध्यात्मज्ञान को जानने के लिये इसे अत्युत्तम और पवित्र पुस्तक अंगीकार किया है। इस के अनंतर अकबर की आज्ञा से फैज़ी ने इस का अनुवाद फार्सी भाषा में किया। दाराशिकोह ने इस का नाम "सिर्र-ए-अकबर" रखा, और भूमिका में गीता और महर्षि व्यास के विषय में निम्न लिखित विचारों को प्रकट किया—

४-यह पुस्तक आनन्द को देने वाली, सत्य का मार्ग दर्शाने वाली, यथार्थ को पहिचानने वाली, ब्रह्मज्ञान से भरी हुई, गहरे भेदों को खोलने वाली, एकता को दिखाने वाली विशेष पुरुषों में सब से श्रेष्ठ ज्ञानी स्वामी व्यासजी कृत

है जिन की स्तुति करना जिह्वा और लेखनी की शक्ति में नहीं। इफलातून जो संसार का प्रथम विख्यात फिलौस्फर और अरब और युनान के फिलौस्करों का शिरोमणि हुआ है और बहुत प्रकार की विद्याओं का स्वामी होने पर भी ज्ञान की परमपरा में "तन्मीम हिन्दी" के शिष्यों में से एक क्षुद्र शिष्य था। "तन्मीम हिन्दी" इतना बड़ा फिलौस्कर हुआ है कि अफलातून ने अपनी पुस्तक में उस के योग्यता से पूर्ण को अपनी लेखनी से प्रकट किया है और यह व्यक्ति स्वामी व्यास के शिष्यों के क्रम में से एक था। स्वामी व्यास के महत्व का अनुमान केवल इसी एक बात से लगाया जा सकता है।

५–गीता और उपनिषदों का फार्सी अनुवाद यूरुप में पहुंचा। यूरुप के फिलौस्फर उनको पढ़कर बिस्मित हुए। प्रसिद्ध कवि फलौस्फर "शलगल" गीता को पढ़कर अत्यन्त मग्न हो गया और उस की प्रशंसा करने लगा। "शौपन हार" और मेज़ैनी के विचारों पर इस का अत्यन्त प्रभाव हुआ। अंग्रीकन फिलौस्फर ऐमर्सन का गुरु "थ्योरो" गीता का भक्त बन गया। वह कहता है "मैं प्रतिदिन गीता के पवित्र जल में स्नान करता हूं। वर्त्तमान काल की पुस्तकों से यह कहीं बढ़ चढ़ कर है जिस काल में यह लिखी गयी होगी वह काल कोई असाधारण ही काल होगा"।

गीतामें उपनिषदों और शास्त्रों का निचोड़ है।

६–यदि गीता का भली भांति अध्ययन किया जाए और उस की शास्त्रों से तुलना की जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस के लेखक ने श्लोकों के बनाने में लगभग समस्त आर्य्य शास्त्रों से सहायता ली है। वेदान्त सांख्य, योगादि दर्शनों तथा मनुस्मृति और वेदों की छटा स्पष्टतया इस के श्लोकों में पायी जाती है। उपनिषदों के कई शब्द और वाक्य इस में दोहराये गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस के निर्माता ने आर्यसाहित्य और फिलौस्फी के सार को अति संक्षेप से एक स्थान में एकत्र कर दिया है। अतएव पुराण में वह सुप्रसिद्ध श्लोक मिलता है जिस में कहा है, "सब उपनिषदें गौओं के सदृश हैं, अर्जुन बछड़े के समान है और कृष्ण दूध दोहने वाला है और गीता अमृत रूपी दूध है"। यदि आर्य्य सभ्यता के समुद्र (धर्म, साहित्य और फिलौस्फी) को एक कूजे के अंदर बंद देखना हो तो वह गीता में देखा जा सकता है। यदि और सब शास्त्र नाश हो गए होते और केवल गीता ही रहजाती, तो भी आर्य्य जाति के गौरव की स्मृति संसार में स्थापित रहती। आर्यसभ्यता इस समय इस में यहां तक सुरक्षित है कि गीता की विस्तृति अथवा नाश आर्य्यधर्म का प्रवर्धन अथवा नाश है। किसीने सत्य कहा है कि "वैदिक धर्म के कल्पवृक्ष का पका हुआ अमृतरूपी फल गीता है"।

गीता और स्वामी दयानन्द।

७—वर्तमानिक काल के आर्य देश के सब से बड़े विद्वान् स्वामी दयानन्द ने गीता को वह पदवी नहीं दी। विचार ने पर ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द जी के ऐसा न करने के विशेष कारण हैं। स्वामी दयानन्द के जीवन में एक ही विचार काम करता है। वह विचार वैदिक धर्म्म की रक्षा का है। स्वामी दयानन्द वेदों से इतना प्रेम रखता था कि उसे जब कोई वस्तु इसके पथ में बंधन डालने वाली प्रतीत होती थी वह उसे घृणा की दृष्टि से परे कर देता था। दूसरे प्रत्येक समय में आर्याचार्य्यों ने अपने २ भिन्न २ मतों को गीता के आश्रय सिद्ध करने की चेष्टा की है। इन मतमतान्तरों के विवादों पर नवीन वेदान्त की नींव रखी गई है और स्फुटतया गीता भी नवीन वेदान्त को सहायता देती प्रतीत होती है। स्वामी दयानन्द इन मतान्तरों और नवीन वेदान्त की शिक्षा को जाति की धार्मिक और आचार विषयक अधोगति के लिये ज़मावार समझता था। अतएव उसने गीता को भी दृष्टि से ओझल अगोचर करना ही उचित समझा।

८—गीता में वेद के विषय में परस्पर विरोध मालूम होता है। कई स्थलों पर यथा अ० ३। १५ में और अ० ७। ८ श्लोक में और पन्द्रहवें और सतरहवें अध्याओं में भी वेद को ब्रह्म, ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ बतलाया है। परन्तु अध्याय दूसरे के ४२, ४५, ४६, ५३ आदि श्लोकों में वेद को नीचे छोड़ कर आगे जाने की अनुमति पाई जाती है।

इस सुस्पष्ट विरोध का दूर होना तब ही सम्भव है जब हम समझ लें कि महाभारत के समय से पूर्व ही वेद शब्द के प्रयोग में भेद होना प्रारम्भ होगया था। उस समय न केवल संहिताओं को ही वेद कहा जाता था किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्रग्रन्थों इत्यादि के लिये भी वेद शब्द प्रयोग होता था। इन ग्रन्थों में विशेष क्रियायें करने और उनसे विशेष फल प्राप्त करने पर बल दिया गया है। गीता के दूसरे अध्याय में इनको ही वैदिक रीतियें कह कर उनके कर्म काण्ड को हीन पद दिया गया है।

९–स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म की नींव केवल संहिता पर रखी है। वेद (संहिता) को आर्य ऋषि आरम्भ से ही स्वतः प्रमाण और केवल उसे ही अशुद्धि से शून्य मानते चले आए हैं। स्वामी दयानंद ने इस लिये वैदिक धर्म की रक्षा के लिये फिर इनका ही आश्रय लिया है। इस सिद्धांत की सत्यता और स्वामी जी के उद्देश्य की पवित्रता में कोई संदेह नहीं हो सकता। तो भी अब काल आ गया है जब कि यह प्रश्न उठाया जाए कि क्या वह संहिता वैदिक धर्म की रक्षा और विस्तृति के लिये वह काम कर सकती है जो कि अन्य धर्म की पुस्तकें वस्तुतः कर रही हैं? ताकि कोई पुस्तक दृढ़ धार्मिक जीवन उत्पन्न कर सके। केवल इसकी सत्यता पर्याप्त नहीं किन्तु प्रत्येक पुरुष के लिये इसका अध्ययन करना आवश्यक है। वेदों की भाषा अत्यंत कठिन है। उसकी व्याख्यायें भी वैसी ही कठिन हैं। वेदों का अभी तक कोई प्रमाणिक अनुवाद नहीं हुआ जो कि साधारण पुरुषों के

सन्मुख उपस्थित किया जा सके। आरम्भ से अद्य पर्यन्त हमें केवल थोड़े ही नाम मिलते हैं जो कि वेद ज्ञाता कहे जा सकते हैं। आर्यसमाज का अर्धशताब्दी का यत्न इस परिणाम पर लाता है कि साधारण मनुष्यों के लिये वेदों को समझना और अध्ययन करना असम्भव प्रतीत होता है। वेद सदैव एक अंवेषण की पुस्तक है जिन का स्वाध्याय विशेष पुरुषों के लिये पुनीत होता है।

——:०:——

धर्म प्रचार का साधन गीता।

१०–यदि विदेशों के अंदर वैदिक धर्म के प्रचार का विचार हो तो वहां लोगों को पढ़ने के लिये एक धर्म पुस्तक का देना आवश्यक है। जब हम वेदों के पढ़ने वाले आर्य देश में इतने न्यून देखते हैं तो अन्य देशों में इनको समझने वालों की कोई आशा न रखनी चाहिये। आर्य समाजी कई बार सत्यार्थप्रकाश को इस प्रयोजन के लिये उपस्थित करते हैं। परंतु वे भूल जाते हैं कि सत्यार्थ-प्रकाश का बहुत सा भाग केवल आर्यावर्त के लिये है जिसमें दूसरों की कोई रुचि नहीं हो सकती। दूसरी ओर गीता को देखिये इसके भीतर एक विशेष सुन्दरता और आकर्षण शक्ति पाई जाती है। विदेशों में बहुत से स्त्री पुरुष मिलते हैं जिनको सकल गीता कण्ठस्थ है। अतएव यह कहना अनुचित नहीं कि गीता एक ऐसा धर्म पुस्तक है जिससे आर्य धर्म की विस्तृति में एक मात्र काम किया जा सकता है। क्यों कि एक जाति इसे अपना धार्मिक पुस्तक मानती है और क्यों कि इस में वैदिक

ज्ञान का रस जैसे कि ऋषि मुनि और दार्शनिक लोग जानते आए हैं, विद्यमान् हैं अतएव इसे सर्वथा आर्य धर्म का प्रमाणिक पुस्तक कहना उचित है।

——:o:——

गीता का स्रोत कहां है।

११—कई पश्चिमी विद्वानों का विचार है कि गीता की शिक्षा बहुत पवित्र है और अंजील की शिक्षा से मिलती है इस लिये गीता अवश्यमेव अंजील से ली गई होगी। यह युक्ति सर्वथा ऐसी है जैसा कि कूप के अंदर उत्पन्न हुए मण्डूक ने उस मत्स्य से किया, जो कि समुद्र में तूफान आने पर उस कूप में आ गिरी। मण्डूक ने पूछा कि समुद्र कितना बड़ा होता है। मत्स्यने कहा, वह बहुत बड़ा होता है मण्डूक थोड़ा परे हटता था और बारम्बार वह पुनः वही प्रश्न पूछता गया जब तक कि वह कूप की दूसरी सीमा तक जा पहुंचा, जब मत्स्य ने कहा कि इस से भी बड़ा, तो वह आश्चर्य्य से कहने लगा कि यह असम्भव है, इस से बड़ा संसार में कुछ नहीं हो सकता।

गीता जैसी अद्वितीय पुस्तक अकस्मात् उग कर पैदा नहीं हो सकती। इससे पहिले चिरकाल की ज्ञानोन्नति का होना आवश्यक है। जहां पर उपनिषदों और दर्शनों की फिलौस्फी विद्यमान् न हो वहां गीता नहीं लिखी जा सकती। केवल महाभारत में ही इसकी व्याख्या करने वाले दृष्टांत मिल सकते हैं न कि त्वरेत के किस्से कहानियों में। गीता की शिक्षा का होना केवल गङ्गा तट पर होना असम्भव था न कि दजला व फरात की भूमि में।

१२–महाभारत की कथा में गीता एक चमकते हीरे के समान है। महाभारत का रचयिता निस्सन्देह ऋषि व्यास हुआ है। चाहे गीत के ज्ञान का उपदेश उसकी मानसिक शक्ति का परिणाम है, चाहे सच मुच कृष्ण महाराज ने इस ज्ञान का उपदेश अर्जुन को किया, इस वार्ता पर तर्क वितर्क करना सर्वथा व्यर्थ है। इससे गीता की पवित्रता में किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ता। वह पवित्रता इसके अंदर ही पाई जाती है। अध्याय १८ के ७५ वें श्लोक में सञ्जय कहता है "इस प्रकार व्यास की कृपा से कृष्ण महाराज की यह उत्तम वार्ता मैंने सुनी। इसको जितना मैं याद करता हूं उतना ही अधिक गाढ़ आनंद में मैं पड़ता जाता हूं"।

कल्पना कीजिये कि यदि व्यास ने स्वयमेव लिखकर उसे कृष्ण महाराज के मुखारविंद से कहलवाना ही उचित समझा है, यहबात कृष्ण के माहात्म्य और ज्ञान को मानुष्यक सीमा से कहीं बढ़ादेता है, कि व्यास जैसा ऋषि भी धर्म के तत्व ज्ञान का प्रचार कृष्ण के नाम से ही करना उचित और आवश्यक समझता था।

कृष्ण चरित्र।

१३–कृष्ण का जन्म मथुरा के पवित्र कारागृह में हुआ जहां इसके माता पिता को उसके मामू कंसराज ने कैदकर रखा था। कंस मथुरा का एक निर्दयी राजा था। उसने न केवल अपने पिता उगरसैन को परन्तु अन्य समीप सम्बन्धियों को जिनका उसे कभी भय हो सकता था बंदीगृह में डाल रखा था, जिस समय कृष्ण का जन्म हुआ उसी रात्रि उसके पिता वसुदेव रक्षिवर्ग के आलस्य अथवा न देखने के कारण, कृष्ण को यमुना के पार अपने ग्वाले मित्र नन्द के पास छोड़ आए, और उनके पास से एक नवीन उत्पन्न हुई लड़की को लाकर कृष्ण के स्थान पर रख दिया। कस ने दूसरी प्रातः उस लड़की को मरवा दिया। परन्तु इसके अनन्तर संदेह हो जाने पर कितनी ही चेष्टायें बच्चे कृष्ण के अन्वेषण और उसको मरवाने के लिये कीं, जिनकी कथायें आर्य लोगों के हृदयों को मोहने वाली परन्तु अत्युक्ति से पूर्ण कविताओं में लिखी गई हैं।

१४–ज्यों २ बच्चा कृष्ण बढ़ता गया उसकी बुद्धि, सुन्दरता और उसकी बंसरी का बजाना गोकुल के ग्वालों तथा गोपियों के हृदयों को आकर्षित करता गया। गोपियों का कृष्ण के संग प्रेम और बाल्यावस्था की रास लीलाओं को कई आचरणहीन पुरुषों ने बुरे रङ्ग में प्रकट किया है। ऐसा ही जैसा कि एक विषयमें फंसा हुआ मनुष्य लड़कों

और लड़कियों के बाल्य प्रेम और क्रीड़ा का चित्र अपने पापी दिल पर बनाता है। मथुरा के गोपाल भी कृष्ण पर इतने मोहित थे कि नवयोवन में ही कृष्ण इन लोगों के लिये एक लीडर सा बन गया था। और जब उसे अपने आपको और अपनी प्रजाको कंस की क्रूरता से बचाने का कोई साधन दृष्टिगोचर न हुआ तो उसने इन गोपालों की एक छोटी सी सेना एकत्रित की, और मथुरा पर आक्रमण करके कंस का अपने हाथ से बध किया। मथुरा का राज पाट कंस के पिता उगरसैन के हाथ समर्पित कर दिया। कंस का श्वसुर जरासंध जो कि मगध का राजा था अपने जामात का बैर लेने के लिये मथुरा पर अभियोग किया। कई सग्रामों में तो कृष्ण उसकी सेना से लड़ता रहा परतु चिरकाल पर्यन्त लड़ते २ और अपने आपको एक कठोर शत्रु पर सफल होता हुआ न देख कर कृष्ण ने मथुरा को छोड़ने का विचार कर लिया। अपने संगियों को लेकर अति दूर जा कर द्वारिका नगर बसाया और एक नई राजधानी की नींव रखी॥

——:o:——

महाभारत के युद्ध की नींव॥

१५—इस समय में हस्तनापुर में पाण्डवों और कौरवों का परस्पर कलह आरम्भ हुआ, जिसकी नींव में उस द्वेष का बीज बोया गया जो कि अभी तक राजपूतों, मरहटों और सिक्खों इत्यादि के इतिहास में अपना फल देता हुआ दिखाई देता है। युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डव भाई सब प्रकार की शिल्पविद्या में ऐसे निपुण थे कि उनकी

कीर्ति को सुनकर उनके चचेरे भाई कौरव जिनका नेता दुर्योधन था द्वेष की अग्नि से प्रज्वलित हो गया। उसने सर्व प्रकार यत्न किया कि किसी तरह पाण्डवों के जीवन का अन्त कर दे। यहां तक की एक विशेष प्रकार का गृह बना कर उसमें उन्हें उनकी माता कुन्ती सहित जला देने का प्रबन्ध किया गया। उनको इस भेदकी पूर्व ही सूचना मिल गई और वे वहां से दौड़ गये। भेष बदल कर इधर उधर समय व्यतीत करते थे कि उनको पञ्चाल के राजा की पुत्री द्रौपदी के स्वयंबर की सूचना मिली। बदले हुए भेष में यहां आए। बहुत से राजे महाराजे पहिले से ही एकत्रित हुए थे। निर्धन ब्राह्मण का भेष बनाये अकेले अर्जुन ने अतीव कठिन प्रतिज्ञा को पूर्ण किया और द्रौपदी ने उसके गले में हार डाल दिया। दूसरे क्षत्रिय राजा विस्मित हो गये और उन्हें ब्राह्मण समझ कर उनके साथ युद्ध करने को तत्पर हुए। कृष्ण वहां पर उपस्थित थे। उसने पहिली बार ही अपने सम्बन्धी पाण्डवों को देखा था। उसने उन्हें पहिचान लिया और उनकी सहायता करने को उद्यत होगया। वह उन्हें हस्तिनापुर लौटा लाया और कौरवों के साथ पूरी तरह संधि करा दी। पाण्डवों ने हस्तिनापुर के निकट ही अपनी पृथक् राजधानी स्थापित की, जिसका नाम इन्द्रप्रस्थ रखा।

१६–कृष्ण द्वारिका को लौट गया, और उसका यश दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। उस समय उसका नाम सुनकर उसका एक पुराना मित्र सुदामा उसे मिलने के लिये द्वारिका गया। बाल्यावस्था में यह सुदामा कृष्ण का सहपाठी था

परंतु अब बहुत निर्धन अवस्था में था। कई दिवस लौं पैदल चलने के पश्चात् बड़े परिश्रम से द्वारिका पहुंचा। चलते समय उसकी स्त्री ने कुछ चावल भेंट करने के लिये उसकी फटी हुई चादर के सिरे में बांध दिये। जब कृष्ण को सुदामा के आने की सूचना मिली तो वह महल से दौड़े हुए बाहिर आए और सुदामा को अपनी छाती से लगा लिया। हाथ पैर प्रक्षालन कराने के उपरांत उसे चौकी पर बिठाया, और प्रेम की वार्तालाप करते हुए उस से पूछा कि मेरे लिए क्या भेंट लाये हो। सुदामा लज्जित होकर चादर के सिरे को छिपाता था कि इतने में कृष्ण ने उठकर उससे चावल छीन लिये और झट मुख में डाल कर चबाने लगे। शेष रुकमणी को दिये कि उनको सब में विभक्त करदे। कृष्ण सुदामा को स्त्री की बड़ी प्रशंसा करने लगे कि उसने उन को यह भेंट भेज कर बड़ी कृपा की। यह एक साधारण बात थी परंतु यह देश के प्रत्येक कोने में फैल गई और इस से कृष्ण का गौरव और प्रियता का डंका बज गया।

१७–कृष्ण को समाचार मिला कि युधिष्ठिर ने एक राजसूय यज्ञ करना आरम्भ किया। कृष्ण वहां पहुंचे और अपनी सम्मत्ति देनी आरम्भ की। उन की सम्मत्ति के अनुसार यह निश्चय हुआ कि राजसूय यज्ञ करने से पूर्व जरासंध के अभिमान को तोड़ना आवश्यक है। कुछ विचार के पश्चात् निश्चय हुआ कि कृष्ण अर्जुन और भीम केवल तीनों ही उसकी राजधानी में जायें। ऐसा ही हुआ। भीम ने जरासंध के साथ द्वन्द युद्ध करके

उसका अन्त कर दिया और उसके पुत्र को गद्दी पर बिठा दिया। लौट आने पर यज्ञ की तय्यारी होने लगी। यज्ञ के आरम्भ के समय नियमानुसार एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को चुनना आवश्यक था, जिस की सब से पहिले पूजा की जाये। महाभारत में इस वादविवाद का दृश्य अत्युत्तम विधि से वर्णन किया गया है। जिस में एक ओर के लोग जिनका नेता भीष्मपितामह था, यह पूजा देश के सब से श्रेष्ठ पुरुष कृष्ण को देना चाहते थे, और दूसरी ओर भी कई राजा थे जिनका नेता शिशुपाल था, जो कृष्ण को नीचा दिखाना चाहते थे। अन्त में शिशुपाल और कृष्ण के मध्य में द्वन्द्व युद्ध हुआ। कृष्ण ने एक ही सुदर्शन चक्र चलाया जिस से शिशुपाल का सिर कट सा उड़ गया। कृष्ण की सब से प्रथम पूजा की गई। इस से कृष्ण का पद सब से ऊंचा होगया और वह देवताओं की पदवी पर जा पहुंचे।

१८–यज्ञ की सफलता को देखकर दुर्योधन के द्वेष की कोई सीमा न रही। उसने फिर किसी न किसी छल से पाण्डवों को गिराना चाहा। और अपने मामू शकुनि की सहायता से एक छल बना कर पाण्डव भाइयों को अपने मकान पर बुलवा भेजा और वहां युधिष्ठिर को जूआ खेलने के लिये आग्रह किया। यह एक प्रकार का आह्वान था, और क्षत्रिय के लिये दूसरे क्षत्रिय के आह्वान को स्वीकार करना ही धर्म समझा जाता था। युधिष्ठिर ने अंगीकार किया। शकुनि कपट जूआ खेलने में बड़ा निपुण था। उसे विश्वास था कि यद्यपि युधिष्ठिर बड़ा धर्मात्मा

है वह क्षत्रिय के आह्वान को कदापि अस्वीकार न करेगा। युधिष्ठिर ने सब धन और यज्ञ में प्राप्त की हुई भेंटें भी जूए में हार दी। राजधानी हार दी। अपने भाइयों और अपने आप को हार दिया। अन्त में उसे द्रौपदी को दांव पर लगाने के लिये कहा गया। द्रौपदी भी हार दी गई। जब द्रौपदी को बड़ी अप्रतिष्ठा से बांध कर सभा में लाया गया तो उस ने भीष्म के सम्मुख बड़ी प्रबल युक्ति रखी, कि युधिष्ठिर का अपने आप को हार देने के पश्चात मुझे दांव पर लगाने का कोई अधिकार नहीं रहा था। भीष्म चुप चाप बैठा रहा। इस सारे खेल का परिणाम यह हुआ कि पाण्डवों को १३ वर्ष के लिये बनबास करना पड़ा। इस बनबास काल में कृष्ण सदैव पाण्डवों की सुध लेता रहा। बनबास का समय समाप्त हो जाने पर पाण्डवों ने यथा तथा यत्न किया कि दुर्योधन इन को निर्वाह के लिये थोड़ी सी भूमि दे दे परन्तु वह एक तिल भर भी भूमि देने पर प्रसन्न न हुआ। अन्त को राजा पांचाल, बिराट और कृष्ण की साहायता से पाण्डवों ने युद्ध करके अपना भाग लेने के लिये तय्यारी कर दी।

१६–पाण्डव अभी बिराट नगर में थे, जब कि कौरवों के पिता धृतराष्ट्र की ओर से महाविद्वान् सञ्जय पाण्डवों के पास दूत बन कर आया। उस ने पहिले तो स्पष्ट स्वीकार कर लिया कि पाण्डवों के साथ बड़ी निष्ठुरता हुई है। दुर्योधन ने कई बार उन के साथ कपट किया है क्योंकि दोनों का एक ही कुल है इस लिये युद्ध करना उचित नहीं एक ही कुल नष्ट होगा। और दूसरे लाखों

क्षत्रिय मारे जायंगे, अतएव सन्तोष और शांति करना ही सर्वोत्तम है। इसका उत्तर कृष्ण ने भरी सभा में ऐसे दिया। "आप वेदों और शास्त्रों के इतने बड़े विद्वान् हो कर क्षत्रिय को धर्म युद्ध से रोकना चाहते हो। अन्याय को दूर करने और निर्बल की रक्षा के लिये क्षत्रिय बनाये गये हैं। शस्त्र भी इसी लिये रचे गये हैं। यदि क्षत्रिय अपना धर्म छोड़ देंगे तो शेष वर्णों के धर्मों का स्वत्व नाश हो जावेगा। जैसे केवल रोटी शब्द कहने से भूखे की उदरपूर्ति नहीं होती इसी प्रकार बिना कर्म खाली ज्ञान किसी काम का नहीं।" संजय लौट गया। फिर कृष्ण स्वयं पाण्डवों की ओर से धृतराष्ट्र की सभा में गये ताकि उन का स्वत्व दिलाने की चेष्टा करें। वह जानते थे कि दुर्योधन इन की बात न सुनेगा। परंतु उन का विचार था कि यह कलंक भी उस पर आरोपन करना चाहिये। युद्ध की तय्यारियां पूरी हुईं। कृष्ण अर्जुन का रथवान् हुआ। अर्जुन इधर का जर्नैल था। दूसरी ओर भीष्म पितामह था। अर्जुन ने कहा कि रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा करो। इस पर अर्जुन ने दोनों ओर दृष्टि डाली। दोनों ही ओर उसे अपने भाई, गुरु और आचार्य दृष्टि गोचर हुए। अर्जुन मोह के समुद्र में डूब गया। उदासीन हो कर अश्रु उसकी नेत्रों से निकल पड़े। उस ने शस्त्र कृष्ण के सामने रख दिये यह कह कर "कि यह तो छोटा सा राज्य है। मैं तो तीन लोक के राज्य के लिये इनका वध न करूंगा"। कृष्ण को इस बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ा जिस का साधन यह गीता हुई।

गीता का प्रादुर्भाव

२०–मनुष्यों के जीवन और जातियों के जीवन में भी कई बार एसे अवसर आ जाते हैं जब कि उन्हें मालूम नहीं होता कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है। उन अवसरों पर एक बड़ा कठिन और गूढ़ प्रश्न सामने आजाता है जिसका कोई उत्तर दिखाई नहीं पड़ता। दोनों ओर उचित युक्तियां उपस्थित की जाती हैं। बड़े २ शूरवीरों और त्यागियों की बुद्धि चक्रा जाती है और उनको अधर्म धर्म के भेष में दीखने लगता है। जिनको संसार से इतना वैराग्य है कि उन्हों ने अपना सर्वस्व त्याग दिया है, उनकी बुद्धि भय के वश में आकर उल्टे विचारों में पड़ जाती है। भगवद्गीता के अन्दर वह ज्ञान पाया जाता है, जिसके भली भांति समझ लेने पर मनुष्य में वह शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे वह धर्माधर्म को ठीक तौर पर पहिचान सकता है। इस शक्तिको अर्जुन ने १८ वें अध्याय के ७३ वें श्लोक में माना है। उसका मन एक गूढ़ और कठिन संशय में पड़कर अन्धकार में पड़ गया था और अन्त में वह कहता है, "तुम्हारी कृपा से मुझे सत्य ज्ञान प्राप्त होगया है। मेरा मोह दूर हो गया है। मेरे संशय छिन्न भिन्न होगये हैं। मैं वही करूंगा जो तुम आज्ञा करोगे"।

गीता में कृष्ण ने तीन भिन्न मार्गों से वह ज्ञान अर्जुन को दर्शाने का यत्न किया है। अर्थात् पहिला भाग एक से छटे अध्याय तक कर्म त्याग और ज्ञान पर बहुत गूढ़ विचार है। दूसरे में अर्थात् ७ से १२ अध्याय तक यह बताया है कि

यह सब संसार जो दृष्टिगोचर है इस सबका बीज आत्मा "मैं" हूं। वह मुझ से उत्पन्न होता और मेरा ही आश्रय लेता है। तीसरे भाग में १३ से १८ पर्यन्त यह बताया है कि किस तरह प्रकृति के गुण तम, रज सत्त्व ब्रह्मण्ड के अंदर काम करते हैं। और किस प्रकार यह सब वाह्य संसार एक ही शक्ति से उत्पन्न होता है।

२१-गीता में कृष्ण पहिले तो अर्जुन का रथवान है फिर उसे ज्ञान का उपदेश करने वाला दिखाई देता है। आगे चल कर कृष्ण अर्जुन को बताता है कि मैं महायोगी और महाज्ञानी हूं। चौथे अध्याय में कहता है कि मैं समय २ पर दुष्टों का नाश करने और धर्म की रक्षा करने के लिये जन्म लेता हूं। छटे में यहां तक कह दिया कि सब भूतों और पदार्थों की आत्मा मैं ही हूं। दूसरे भाग में स्पष्टतया बता दिया है कि सब ब्रह्माण्ड मेरा ही खेल है। यह एक बड़ा भारी प्रश्न है कि किस तरह से एक मनुष्य यह सब कुछ कह सकता है। इसका उत्तर तो साधारण है कि जैसे एक ही पुरुष किसी का तो पुत्र, किसी का पिता, किसी का गुरु, किसी का शिष्य भिन्न २ दशाओं में भिन्न २ नामों से बुलाया जाता है। एक स्थल पर बहुत अच्छा वर्णन किया गया है कि जब दो मनुष्यों में वेमनुष्य के कारण अप्रसन्नता होती है, तो इसका वास्तविक कारण यह होता है कि वह मनुष्य दो नहीं होते, छः होते हैं। जिससे विवाद का अवसर प्राप्त होताहै। इनमें से प्रत्येक अपने आपको कुछ और समझता है और दूसरा बात करने वाला कुछ और ही विचार करता है। और तीसरे वस्तुतः

वे दोनों कुछ और होते हैं। सत्य तो यह है कि किसी अन्य वस्तु को जानना अपने मन की अवस्था पर निर्भर है। अज्ञानी पुरुष तो केवल शरीर को ही देख सकता है, विचारशील शरीर को नहीं परन्तु गुणों को देखता है। लेकिन ज्ञानी शरीर और गुणों का छोड़कर केवल आत्मा का निरूपण करता है। इस विषय पर एक दृष्टान्त दिया गया है। एक समय रामचन्द्र ने हनुमान से पूछा कि तुम्हारा हमारे साथ क्या सम्बंध है। हनुमान सोचता रहा कि एक उत्तर देने से मूर्ख मुझे अभिमानी कहेंगे। और दूसरे उत्तर से ज्ञानी मुझे अज्ञानी कहेंगे। सोच कर यह उत्तर दिया "महाराज! शरीर के अनुसार तो मैं आपका दास हूं। जीव के अनुसार आपका अन्श हूं और आत्मा के अनुसार मैं आपका स्वरूप हूं।"

मसीह अपने आपको परमात्मा का पुत्र कहता था। किन्तु एक स्थल पर प्रकट किया "कि मैं और मेरा पिता एक ही हैं।"

ज्ञान की सापेक्षता।

२२—न्याय दर्शन में पदार्थ के जानने के तीन प्रमाण बताए हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। शब्द प्रमाण में आप्त पुरुषों का कथन और इतिहास इत्यादि आते हैं। परंतु शब्द प्रमाण इस विचार से बलहीन है कि साधारण पुरुष बिना समझे अथवा किसी प्रयोजन को सामने रख कर झूठ बोलने पर तत्पर होजाते हैं और करामातें बहुधा अति साधारण साम्प्रदायिक चमत्कार मनुष्यों की साक्षी बिना पर चलाए गए हैं और इस लिये माननीय नहीं कहे जा सकते। जब दो वस्तुओं का सम्बन्ध सदैव एक स्थल पर पाया जाता है तो एक वस्तु का निरूपण करके दूसरे की विद्यमानता का परिणाम निकालना अनुमान कहलाता है। यथा धूप को देखकर अग्नि का विचार करना। यदि हम सावधानतया देखें तो अनुमान, प्रत्यक्ष पर ही निर्भर होता है। पहिले बारम्बार प्रत्यक्ष ज्ञान होने के पश्चात् ही अनुमान का विचार उत्पन्न होता है। वस्तुतः केवल प्रत्यक्ष ही ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो कि हमको इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। संक्षेपेण हम सब ज्ञान इन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त करते हैं। हमारी ज्ञान इंद्रियां अर्थात् नेत्र, नासिका, कर्ण, जिह्वा और त्वचा विशेष शिराओं द्वारा मस्तिष्क के साथ बन्धी हुई हैं। मस्तिष्क एक प्रकार का सैण्ट्रल टैलीग्राफ स्टेशन है जिसमें

से वे स्नसायें तारों की न्याईं शरीर के प्रत्येक अवयव में पहुंचती हैं। यह स्नसायें दो प्रकार की हैं। एक मोटर (Motor) जो कि शरीर के ऊपर प्रत्येक वाह्य प्रभाव को सदेशा की न्याईं मस्तिष्क में लेजाते हैं। दूसरी स्नसायें सैंसरी (Sensory) कहलाती हैं, जो कि मस्तिष्क से सब आदेशोंको शरीर के भिन्न २ अवयवों तक लेजाती हैं। यथा, जब किसी वाह्य पदार्थ शीत, उष्ण अथवा कोमल का सम्बंध त्वचा के किसी भाग से होता है तो वहां की मोटरनर्व तत्क्षण उस प्रभाव को मस्तिष्क तक पहुंचा देती है। फिर मस्तिष्क से इस अंश को पीछे हटने अथवा वहीं रहने की आज्ञा होती है। यह सब कार्य बहुत ही अल्प समय के अन्दर होने से हम को स्वमेव होता हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार का प्रभाव जब एक बार हो कर दूसरी बार किसी इन्द्रिय के ऊपर होता है तो मस्तिष्क में एक नया अनुभव काम करता है कि यह प्रभाव पहिले भी मुझ में हुआ है। यह अनुभव ज्ञान का मूल है। बाल्यावस्था में यह संस्कार बारंबार हमारी इन्द्रियों पर पड़ते हैं, और इस प्रकार हमारे मस्तिष्क में ज्ञान संग्रह प्रति दिन उन्नति पर होता है।

२३–केवल इन्द्रियां ही हमारे ज्ञान के साधन हैं। इस लिये आवश्यक है कि यदि इन्द्रियों में भेद हो तो ज्ञान में भी भेद होगा। जो मनुष्य जन्म से अन्धे या बहिरे होते हैं उन को पदार्थों की आकृति तथा नाम का कोई ज्ञान नहीं हो सकता; तथापि उनकी इस न्यूनता को पूरा करने के लिये उन की दूसरी इन्द्रियां थोड़ी सी तीव्र हो जाती

हैं। चक्षुहीन मनुष्य केवल हाथ से टटोलने से वर्षों पश्चात् मनुष्य को पहिचान लेते हैं। कई जीवों की इन्द्रियों में दूसरे जीवों की इन्द्रियों से बड़ा अंतर है। यथा कुत्ते को सूंघने की शक्ति और बाज़ को देखने की शक्ति इतनी अधिक है कि हम विचार नहीं कर सकते। कुत्ता शिकार के पैर के भूमि पर चिन्ह को सूंघ कर उस का अन्वेषण कर सकता है। यह लोक प्रचलित है कि किसी प्रकार थोड़े से अंधों ने हाथी को केवल हाथों से अन्वेषण के पश्चात् उस की आकृति को भिन्न प्रकार से वर्णन किया। एक पदार्थ का ज्ञान मनुष्य को एक विशेष प्रकार का होता है, परंतु उसी पदार्थ के ज्ञान का चित्र एक च्युएटी या मछली के मस्तिष्क पर उस से सर्वथा भिन्न होता है।

२४-पदार्थों के हमारी इन्द्रियों से अंतर के न्यून अधिक होने पर या मध्य में किसी और वस्तु के आ जाने पर हमारा ज्ञान उन के संम्बंध में सर्वथा बदल जाता है। एक पर्वत को चार क्रोश परे देखने से एक रूप दिखाई देता है दो क्रोश पर और रूप होता है। एक क्रोश पर अर्धक्रोश पर सौ गजपर और एक गज पर और होता है। संक्षेपतः यदि इस अंतर के इंचके विभाग किये जायें तो उस पर्वत के रूप में सहस्रों परिवर्तन पैदा हो जाते हैं। जब हम (सूक्ष्मवीक्षणी) खुर्दबीन के द्वारा छाछ के एक अणु को देखें तो उस में सहस्रों प्राणी (बैकटेरिया) चलते दिखाई देते हैं। हालांकि केवल नेत्र मात्र से देखने पर भरे प्याले में कुछ दिखाई नहीं देता। दूरवीक्षणी दूरबीन के द्वारा तारों को देखने पर ब्रह्माण्ड का चित्र ही महारी

दृष्टि में पलट जाता है । इसी प्रकार अन्य दृष्टान्त बताए जाते हैं, कि अंधकार बीच में विद्यमान होने पर साधारण रस्सी सर्प के रूप में दिखाई पड़ती है । अंतर और सूर्य्य की रश्मियां मध्य में आ जाने पर मृग तृष्णा का दृश्य हम देखते हैं जिस से कि बालू जल की न्याईं दृष्टिगोचर होती है । और इस जल के धोखे में कहा जाता है कि मृग दौड़ २ कर अपना जीवन त्याग देता है । इसी प्रकार का धोखा भर्तृहरि को हुआ । जब कि वह राज पाट को त्याग करके चांदनी रात्रि के समय बन में जा रहा था तो उस ने एक चमकती हुई मणि को देखा । तृष्णा फिर जागृत हुई । उस की ओर हाथ उठाया विदित हुआ कि वह तो किसी जोंक की थूक थी जो कि चन्द्रमा की किरणों के कारण इतनी चमकती थी ।

२५–ज्ञान मस्तिष्क में प्रतिष्ठित होता है । मस्तिष्क की ज्ञान वाली अवस्था को बुद्धि कहते हैं । बुद्धि की अवस्था बदल जाने पर ज्ञान भी बदल जाता है । शिक्षा मिलने पर बुद्धि तीव्र होती है । मानुष्यक वस्तुयें मद्य, भंग, अफीम इत्यादि के प्रभाव से उलटी सी हो जाती है । दोनों दशाओं में पदार्थों का ज्ञान सर्वथा भिन्न होता है । जल के एक छपड़ के अन्दर एक अनपढ़ मनुष्य को सिवाय गन्दगी के कुछ दिखलाई नहीं देता । परंतु बैकटेरिया की विद्या जानने वाले की दृष्टि उसी के अन्दर जानदारों की सैकड़ों बस्तियां दिखात. हैं । जिन वस्तुओं को एक साधारण बुद्धि रखने वाला पुरुष भी कंकर या गुड़ियों की खेलें

समझता है। वह उन बच्चों की दृष्टि में जो उन से खेलते हैं बड़ी आवश्यक और सुमूल्य वस्तुयें हैं।

एक कथा है कि किसी राजा को एक ज्योतशी ने यह बताया कि अमुक दिन अमुक महूर्त में एक ऐसी वायु चलेगी जिससे सब लोग मूर्ख होजावेंगे। राजा ने अपने मंत्री से सम्मति लेकर अपने आपको मंत्री सहित एक ऐसे स्थान में बंद किया जहां पर कि वायु न लग सके। वायु चली; लोगों की बुद्धि बदल गई। बाहिर निकल ने पर वह लोगों को देखकर उन्हें मूर्ख बताते थे। हालां कि दूसरे सब लोग उन दोनों को ही मूर्ख ख्याल करने लगे।

२६–जब हमारा मन काम, क्रोध, लोभ, मोह अभिमान आदि वृत्तियों में किसी एक के नीचे आ जाता है तो उस समय भी हमारे ज्ञान की अवस्था सर्वथा बदल जाती है। गीता के तृतीय अध्याय के ३७, ३८, ३९, ४० श्लोकों में बड़ी उत्तम रीति से बताया है कि किस प्रकार हमारी कामना की मैल इस मन को धुंधला कर देती है यथा धूप अग्नि को और धूल शीशे को प्रच्छादन कर देती है। लोभ के वश में होता हुआ कुत्ता अपने मुख में पकड़े हुए मांस के खण्ड की छाया जल में देख कर के और उसे मांस का खण्ड समझ कर पकड़ने के लिये मुख खोलता है और अपना खण्ड भी जल में खो देता है। इसी प्रकार भर्तृहरि ने एक सुन्दर श्लोक में कहा है कि कैसे गज, मृग, कीट, कृमि और मत्स्य भिन्न विषयों स्पर्श, सुनने देखने, सूंघने और खाने आदि के वश में आए हुए अपने जीवन को त्याग देते हैं। बड़े दुःख से भर्तृ जी कहते हैं कि जब एक२

इन्द्रिय उस को इतना कष्ट पहुंचाती है तो मनुष्य की क्या दशा, जो कि सब इन्द्रियों के बश में पड़ा हो। इस प्रकार के ज्ञान का एक स्थूल दृष्टान्त है। किसी क्षेत्र में एक शुष्क वृक्ष का स्कंध खड़ा था। रात्रि के समय द्वार-पाल उसे चोर समझ कर उसकी ओर बढ़ा। एक धोबी अपने खोये हुए गर्दभ के अन्वेषण में उसको गर्दभ समझ कर उसके समीप गया। मोह के बश में हुई हुई एक युवा स्त्री उसे अपना प्रिय समझ कर उसकी ओर ध्यानपूर्वक देखने लगी। इन्द्रियों के बश में पड़े हुए अज्ञान का अनुमान हमको बुद्ध के एक भिक्षु के वृत्तान्त से भली प्रकार ज्ञात होता है। कहा जाता है कि एक अतीव सुन्दर और युवक भिक्षु ग्राम में भिक्षा मांगने को जाया करता था। प्रथम ही गृह में बास करने वाली एक स्त्री जो कि उसे देख कर मोहित ही हो गई उसे पर्याप्त भिक्षा दे देती थी और वह लौट जाता था। कुछ काल व्यतीत होने पर उस स्त्री ने भिक्षु से अपने हृदयकी इच्छा इन शब्दोंमें प्रकट की महाराज! मैं आप के नयनों पर मर रही हूँ। भिक्षु ने सिलाई से अपने दोनों नेत्र निकाल कर उस के समर्पित कर दिये। इसी प्रकार का एक दृष्टान्त एक युवा स्त्री का है जिसने एक राजा को ज्ञान का मार्ग बताया। वह स्त्री बड़े शुद्ध आचरण वाली थी। एक राजा उस पर मोहित हो गया। उस स्त्री ने राजा से तीन दिवस का अवकाश मांगा, और इस काल में उसने अतिसार ले लिये। दासी को यह कह दिया कि सब मैले को एक ठीकड़े में एकत्रित करती रहे। उसका सरीर हड्डियों का एक पंजर सा बन

गया। उसने राजा को बुला भेजा। राजा उस के रूप को न पहिचान कर इधर उधर देखने लगा, जिस पर उसने राजा से ऐसे कहा। अब मुझे आप देखना ही नहीं चाहते और उस मैलेके टीकड़ेकी ओर अंगुली करके कहा कि वह वस्तु है जिस पर आप इतने मोहित थे। आप इस टीकड़े को अपने संग ले जाइये।

२७–इस सोपाधि (इन्द्रियों द्वारा) ज्ञान को माया का नाम दिया गया है और इन्हीं अर्थों में यह संसार माया रूपी एक खेल सा है। जिसमें कि जीवात्मा फंसा हुआ है ब्रह्माण्ड की रचना में मनुष्य भी इस बड़ी मैशीन का एक पुर्जा है। इसे अन्य पदार्थों का निर्विकल्प अर्थात् (Absolute) ज्ञान होना संभव नहीं, हम साधारण अवस्था में वाह्य संसार के इतने आधीन होते हैं कि हमको उस की वास्तविक अवस्था की ओर कदापि ध्यान नहीं आता। यथा एक पुरुष थियेटर के अन्दर बैठा हुआ नाटक को देखता है, अथवा एक पुरुष एक उपन्यास को पढ़ रहा है, वह उस समय के लिये उस नाटक अथवा उपन्यास में इतना फंस जाता है कि वह उनको ही यथार्थ बात समझ कर उनसे आह्लाद, शोक और दुःख इसी प्रकार अनुभव करता है जैसाकि हम अपने संसार में अनुभव करते हैं। वह यथार्थ ज्ञान को इतना भूल जाता है कि इसे विचार नहीं आता कि मैं एक तमाशा देखताहूं या कल्पित किस्सा पढ़ रहा हूं।

संसार का हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियों द्वाराही होता है, और यह इन्द्रियां अतीव निर्बल और अपूर्णहैं। इस लिये यह

बात स्पष्ट है कि हमको किसी वस्तु का निरपेक्ष ज्ञान हो नहीं सकता। जब हम इस संसार को ही नहीं जान सकते जिसको कि हम इतना जानतेहैं तो ब्रह्म का जो कि इन्द्रियों की शक्ति से कहीं परे है कैसे ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। साधारणतया पुरुष ईश्वर का चित्र अपने मस्तिष्क से बनाता है अर्थात् जो बातें उसे अधिक अच्छी लगती हैं उनके अनुसार ईश्वर का आकार बना लेता है। ईश्वर को तो छोड़ दें। हम महापुरुषों को भी अपनी २ बुद्धि के अनुसार देखते हैं उदाहरणतया गुरु गोबिंदसिंह शत्रुओं की दृष्टि में धर्म का बड़ा भयंकर शत्रु था। हम आर्य्यों की दृष्टि में जातीय धर्म का रक्षक था। प्रेमी सिक्खों की दृष्टि में वह ईश्वर का अवतार था। सोश्यलिस्ट विचारों के सिक्ख इसे बड़ा शास्त्री कहते हैं। इसी तरह जिन गुणों को मनुष्य चाहता है उनको पराकाष्ठा की पदवी दे कर ईश्वर के अन्दर डाल देता है। हम प्रेम को अच्छा समझते हैं। हम कहते हैं ईश्वर सबसे प्रेम करता है। हम दया को अच्छा समझते हैं। हम कहते हैं कि ईश्वर बड़ा दयालु है। हम न्याय को अच्छा समझते हैं और कहते हैं कि ईश्वर बड़ा न्यायकारी है। इसी प्रकार कई मनुष्य इसे क्रूरतया अत्याचारी भी बना लेते हैं। गीता के १३ अध्याय के १४ वें श्लोक में कहा है कि वह जिसे इतने गुणों वाला कहा जाता है वस्तुतः निर्गुण है। इसका सब से बड़ा प्रमाण हमको उस प्रश्न के रूप में प्रतीत होता है जो कि सदैव साधारण पुरुषों की जिह्वा पर पाया जाता है। वह यह कि ईश्वर ने इस सृष्टि को क्यों रचा। इसके

रचने में उसका क्या प्रयोजन था। बात यह है कि हमारे जीवन का अनुभव हमें एक ही शिक्षा देता है। हम कोई कार्य बिना प्रयोजन के नहीं करते। प्रत्येक कार्य में हमारा आशय साथ मिला हुआ होता है। हमारे दिमाग़ की रचना ही ऐसी हो चुकी है कि हम इस सृष्टि को बिना किसी प्रयोजन को रचा हुआ स्वीकार नहीं कर सकते। जिस ब्रह्म को हमारे लिये जानना ही सम्भव नहीं उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि उसने क्यों किया? उसका क्या प्रयोजन है? कुछ अर्थ नहीं रखता। गीता के ३ अध्याय का १० वां श्लोक अवश्य बताता है कि इस ब्रह्म ने प्रजा को यज्ञ से अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के रचा है।

२८–व्यवहार में हमारा ज्ञान केवल सापेक्ष ही होता है। गीता के दूसरे अध्याय के ५६ और १४ अध्याय के २४ वें आदि श्लोकों में कहा है कि बुद्धिमान पुरुष की दृष्टि में सुख, दुःख स्तुति, निन्दा, प्रिय और श्रेय, सोना और पत्थर एक ही हैं। जितने द्वन्द्व संसार में हमें एक दूसरे के विपरीति दिखाई देते हैं वह निर्पेक्षतया देखने से एक ही आकृति ग्रहण किये हुए दिखाई देते हैं। इन में केवल मात्रा का अंतर है जाति का नहीं विज्ञान (Science) में हम जानते हैं कि विद्युत की तरंग एक ही शक्ति है। इस का धन रूप वर निषेध रूप (Positive & Negative) होना केवल एक कल्पित व्यवस्था है। इसी प्रकार श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता जीवन और मृत्यु, शीतलता और उष्णता भी हमारे व्यवहार के लिये परिभाषायें बनाई हुई हैं पूर्व और पश्चिम ओर स्वमेव कुछ नहीं थोड़ी

सी चेष्टा एक वस्तु को पूर्व से पश्चिम की ओर कर देती है। इस समय जो हमारा उत्तर है थोड़ी चेष्टा से दक्षिण हो जाता है। वाशिंगटन में राजधानी के गृह की छत की बनावट ऐसी है कि उस के शिखर पर वर्षा के बिन्दु गिरते हैं। बाल भर के भेद होने पर एक बिन्दु उत्तर की ओर लारेंस खाड़ी में और दूसरा दक्षिण की ओर खाड़ी मैक्सीको में, एक दूसरे से सहस्रों क्रोश के अंतर पर जा पड़ता है। सोहलवीं शताब्दी के विद्वानों की सृष्टि इतनी पीछे थी कि जब कोलम्बस ने स्पेन के शासक के सामने अमेरीका अन्वेषण करने का प्रश्न रखा तो उस बादशाह ने यह प्रश्न यूनिवर्सिटी के विद्वानों के सन्मुख रखा। विद्वानों ने निश्चय किया कि यदि कोई ऐसा देश भूमि के नीच विद्यमान है तो वहां के मनुष्य शिर नीचे और पैर ऊपर करके चलते होंगे उन लोगों के संग किसी प्रकार का सम्बन्ध उत्पन्न करना उचित न था। विद्वान् लोग उस समय यह भी न समझ सकते थे कि ऊपर और नीचे दो कल्पित बातें हैं जिनका कि हम अपने व्यवहार के लिये प्रयोग करते हैं।

२६–सुख दुःख के विषय में यही नियम काम करता है संसार का अनुभव हमें सिखाता है कि प्रत्येक सुख के लिये थोड़े बहुत दुःख का उठाना आवश्यक होता है अर्थात् सुख के अंदर ही दुःख का भाव विद्यमान होता है। आनन्द का अन्वेषण करना ही संसार में दुःख का सबसे बड़ा कारण है। इस कारण मनुष्य को सुख की अपेक्षा दुःख से बहुत अनुभव और ज्ञान प्राप्त होता है। एक भार हम

जीविका के बदले में उठा कर ले जाते हैं उसमें कोई दुःख या सुख नहीं। बेगार में ले जाने पर दुःख होता है। वही भार अपने प्रिय मित्र के लिये उठाने में सुख होता है।

एक बालक वर्षों पर्यन्त परिश्रम करता है। कष्ट उठाता है। इससे उसको विद्या लाभ का आनंद प्राप्त होता है। संक्षेपता से संसार में कोई काम करना हो जिसके अंत में हमें खुशी की आशा हो सकती है। इसके लिये पहिले परिश्रम करना आवश्यक है। यहां तक कि शारीरिक अवस्था ठीक रखने के लिये भी प्रति दिन थोड़ा बहुत व्यायाम करना आवश्यक है जो कि उस समय दुःख सा प्रतीत होता है। संसार में रुपया उपार्जित करने का इस कदर यत्न होता है कि एक को रुपया उपार्जन करने में सफलता होती है। उसे सुख प्रतीत होता है वही बात दूसरों के लिये दुःख है। मुकद्दमा में एक पक्ष विजय प्राप्त करता है उसको प्रसन्नता होती है। दूसरे पक्ष के लिये उससे दुःख होता है। वर्षा होती है, मार्ग में चलता पथिक इसस कितना दुःख उठाता है वह चित्त में कुढ़ता है परंतु इसी वर्षा से कृषक गद २ प्रसन्न हो जाते हैं। इस का अत्युत्तम दृष्टांत उस लोमड़ी का है जिसके पीछे शिकारी कुत्ते लगे थे। वह बहुत थक गई। कुत्तों की ओर मुड़कर उसने कहा कि अंतमें यह तो बताओ कि तुम मेरे पीछे क्यों पड़े हो। कुत्तों ने उत्तर दिया "तमाशा के लिये" लोमड़ी कहने लगी "क्या तुम जानते हो कि जो तुम्हारे लिये तमाशा है वही मेरे लिये मृत्यु है।" जहां युद्ध में एक पक्ष विजय पर प्रसन्न होता है वहां दूसरा पक्ष पराजय के शोकसागर

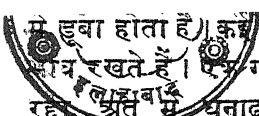

में डूबा होता है। कई बार सुख दुःख दोनों केवल मानसिक भाव रखते हैं। एक गायक धनवान के पास गाना गाता रहा अंत में धनाढ्य ने कहा कल आना तुम को पारितोषिक दिया जावेगा। गायक आनंद पूर्वक घर चला गया। जब दूसरेदिन आकर पारितोषिक मांगा तो धनवान ने कहा कि जैसा बातों से तुम ने मेरे चित्त को संतुष्ट किया है मैंने भी एक बात कह कर रात्रि भर तुम को प्रसन्न कर दिया।

३०–भलाई और बुराई। साधारण पुरुष संसार में रोग तथा मृत्यु के दुःख को देखकर भयभीत होजाते हैं। बहुत से पुरुष तो उनको इस सृष्टिकर्त्ता परमात्मा के विरुद्ध एक बड़ा दोष सकझते हैं और कहते हैं कि यदि सच मुच कोई ईश्वर है तो वह जगत से इन रोगों तथा आपत्तिओं को दूर क्यों नहीं कर देता। स्पेन के शासक ऐल्फन्ज़ो ने लोगों को कहा कि यदि मैं सृष्टि की उत्पत्ति के समय उपस्थित होता तो परमात्मा को इससे अच्छा बनाने की सम्मति देता। कई नास्तिक लोग जब कभी तूफान या भूचाल का अवसर आता है तो ईश्वर पर विश्वास रखने वालों को यह कहते हैं कि तुम उसी अपने ईश्वर को क्यों नहीं बुलाते ताकि वह तुम्हारे कष्टों को आकर रोके। संसार में इतनी भयंकर बुराई देखकर वे इतने घबरा जाते हैं कि उनके एक प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है।

कहते हैं कि एक बुढ़िया ने ऊंटों पर बहुत से रूई के बोरे लदे हुए देखे। उसके मन में यह चिंता उत्पन्न हुई

कि इतनी रुई को कौन कातेगा। इसी चिंता में वह पागल होगई। किसी औषधि से भी उसका रोग अच्छा न हुआ। अंत में एक अनुभवी वैद्य ने इसका कारण मालूम करके इस के कानों में यह सूचित किया कि उन बोरों को आग लग गई है। आश्चर्य से बुढ़िया ने पूछा कि वे सब भस्मी भूत होगये जिसके साथही उसकी बुद्धि फिर ठीक होगई।

३१–थोड़ा विचार करने पर ज्ञात हो जायगा कि यह रोग और मृत्यु इतने ही बुराई का नमूना हैं जितने कि भलाई का। रोग वस्तुतः क्या है। यह केवल हमारी शारीरिक अशुद्धियों की शुद्धि होती है। उदाहरणतया जब हम बमन करते हैं तो उसके यह अर्थ होते हैं कि हमने कोई अनुचित्त वस्तु का ग्रहण किया है जिसे कि हमारा आमाशय अपने अंदर से त्यागने का यत्न कर रहा है। जब व्रण में पीप पड़ जाती है तो वह केवल हमारे रक्त के प्रयास का परिणाम होता है जब कि वह अपने अंदर से उस गंदे द्रव्य को निकालना चाहता है जो कि हम अपनी अशुद्धि से अंदर प्रविष्ट करते हैं। इसी प्रकार कई बार यह होता है कि हम लोग गले के भीतर थोड़ी सी खाज को न समझ कर जो कि ज़रा गरम, सरद होने से उत्पन्न हो जाती है, अपने अंदर बलग़म की अधिकता समझ लेते हैं और वर्षों पर्यन्त प्रति प्रातः कफ़ को निकालने का यत्न करते रहते हैं।

हम अपने इर्द गिर्द मल रख कर एक प्रकार के मच्छर को उत्पन्न करते हैं जो कि हमें काटता है और इससे मलेरिया ज्वर उत्पन्न होता है। हम अपने रोग का कारण

आप ही उत्पन्न करते हैं और इससे अपनी रक्षा नहीं करते छूत के रोग हमारे शारीरिक तथा आत्मिक मलिनता के कारण उत्पन्न होते हैं। जब कोई मनुष्य इस प्रकार के रोग में फंस जाए तो उस के लिये उचित होता है कि वह अपनी मलिनता से सोसायटी के दूसरे जनों को दुःख में न डाले और न भविष्य में सन्तानोत्पत्ति करके उन के लिये दुःख का कारण बने। इसी प्रकार महा रोग भी सोसायटी की एकत्रित मलिनता तथा गिरावट के परिणाम होते हैं। जिन देशों में लोग गृहों को स्पष्ट और वायु से व्याप्त रखते हैं और अपना भोजन शुद्ध रखते हैं उनमें इन रोगों का चिन्ह भी नहीं मिलता, यद्यपि बबाई रोग का प्रारम्भ किसी विशेष पुरुष या स्थान में मल अथवा विषमय द्रव्य के एकत्रित हो जाने से होता है। वह सोसायटी पहिले ही से इस विष के प्रभाव होने के योग्य बनी हुई होती है। सामाजिक पापों के बदले में एक अपूर्व नियम काम करता है कि यदि सोसायटी का एक सभासद कोई सोशियल पाप करे तो उसका दण्ड न केवल उस पुरुष तक ही रहता है परन्तु उसका प्रभाव सारी सोसायटी पर अवश्य पड़ता है। कारण यह है कि प्रकृति सारी सोसायटी को भी एक ही अवयवी (Organism) समझती है। सोसायटी के ऊपर यही बड़ा भारी पाप होता है कि उसने अपने एक अङ्गभूत को क्यों इतना मलिन और पथ-भ्रष्ट रहने दिया।

सामाजिक नियम यह है कि कोई पुरुष व्यक्तिगत अथवा थोड़े से पुरुष सोसायटी को पीछे छोड़कर उन्नति नहीं कर

सकते। जहां पर किसी मनुष्य में आगे बढ़ने की इच्छा हो उसके लिये आवश्यक हैकि सोसायटी के शेष भाग (खंडों) को भी अपने संग लेकर चले। इस तरह से समाज की भलाई में हमारी अपनी भलाई पाई जाती है। कैसी अनुचित बात है कि हम स्वमेव अशुद्धियां करके अपने अन्दर रोग अथवा कष्ट उत्पन्न करें और प्रति अवसर उन्हीं की निवृत्ति के लिये परमात्मा को आहवान करते हैं।

३२–एक और पक्ष पर दृष्टि डालने से प्रतीत होगा कि मृत्यु और जीवन यहां का इतना सम्बंध है कि एक दूसरे स पृथक नहीं किये जा सकते। यदि जगत में मृत्यु न होतो तो नव जीवन कहां से उत्पन्न हो सकता था। प्रकृति के अन्दर केवल परिवर्तन का एक नियम काम करता है जिससे कि एक स्थान मृत्यु और दूसरे स्थान जीवन उत्पन्न होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। एक दीप का जलना उस दीप का जीवन है और वह जलना ही उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार हम भी यथा यथा जीवन में बढ़ते हैं तथा २ मृत्यु के निकट चले जाते हैं। इस को एक और पक्ष से देखें। अनुमान कीजिए कि यदि साधारण जीवों के अन्दर मृत्यु न हो तो अचिरकाल में ही यह भूमि किसी एक प्रकार के जीवों से इतनी भरपूर हो जाए कि दूसरे अनन्त प्रकार के जीवों के लिये उस पर कोई स्थान ही न रहे। हाथी संसार में सबसे न्यून फैलने वाला प्राणि समझा जाता है। सौ वर्ष से अधिक यह जीता है। हथनी छः वर्ष के पश्चात् एक बच्चा देती है। आयु पर्यन्त एक युगल से दश के लग भग बच्चे उत्पन्न होते हैं।

डारवन ने हिसाब लगाकर देखा है कि यदि हाथी की मृत्यु न होती तो केवल एक युगल हाथी से ७४० वर्ष के अन्दर १२५ लक्ष हाथी हो सकते हैं। इसी एक दृष्टांत से अनुमान किया जासकता है। कि मृत्यु न होने पर यह पृथ्वी अल्पकाल लों जीवन को सम्भाल न सकती। जीवन का मूल्य केवल मृत्यु ही से होता है। कल्पना के तौर पर, यदि उत्पत्ति के समय से अद्य पर्यन्त कोई मृत्यु न होती, न किसी मनुष्य में न पशु में, (क्योंकि यह निरर्थक है कि मनुष्य न मरें और पशु मरते जायें) तो आज भूमि पर क्या दृश्य होता। विचार दौड़ाने के लिये अच्छा अभ्यास है। अस्तु। यदि मनुष्य जिन्दा रहे तो किस आयु में जिंदा रहे। वृद्धावस्था को तो कोई पसंद न करेगा। बाल्य अवस्था में तो हो ही नहीं सकता क्यों कि प्रत्येक के लिये सन्तानोत्पत्ति करना भी आवश्यक होगा। योवन सबके लिये कैसे होगी। पिता, पितामह, पर पितामह इत्यादि अनन्त पुश्तों लों सब युवक ही कैसे होंगे। यह एक दूसरा अभ्यास है।

कई मनुष्यों को भूकम्प अत्यंत भयंकर प्रतीत होते हैं परंतु वे यह बात भूल जाते हैं कि वही कारण जो इसभूमि को प्राणि उत्पन्न करने के योग्य बनाता है, भूकम्प भी उत्पन्न करता है। भूमि आरम्भ में अग्नि के गोले के सदृश होती है। काल व्यतीत होनेपर यथा यथा इसमें उष्णता न्यून होती जाती है तो उसके ऊपर जीवन उत्पन्न होना प्रारम्भ होता है। अब भी भूमि की अभ्यंतर अग्नि के गोले की उष्णता दिन प्रति न्यून हो रही है जिससे कि भूमि में

संकोचन होकर कभी २ भूकम्प उत्पन्न होता है जो कि बहुधा ज्वालामुखी पर्वतों के समीप होते हैं। ज्वालामुखी पर्वतों की विद्यमानता मनुष्यों के दर्शाने के लिये पर्याप्त है कि वे उस स्थान से बचकर रहें। यदि ज्ञानपूर्व कोई अग्नि में पड़ना चाहता है तो ईश्वर उसका कोई उपाय नहीं कर सकता।

३३–धार्मिक जगत् में भी यह अवस्था है कि राग और द्वेष साथ साथ जाते हैं। किसी एक से प्रेम करना दूसरों से द्वेष रखना है। जो पुरुष अपने बच्चों को ही प्रेम करता है वह दूसरे बच्चों को कभी उनके तुल्य नहीं समझ सकता। जिन जातियों में देश के लिये प्रेम बहुत अधिक है वह अवश्य दूसरी जातियों से घृणा रखती हैं। उनके अन्दर कभी मानुष्यक प्रेम का अंश मात्र भी नहीं हो सकता ठीक यही दशा सत और असत की है। कहा जा सकता है कि जो कुछ चित्त में हो उसे प्रकट करना सत है और उसके विपरीत असत है। निसन्देह यह तो ठीक है परंतु मस्तिष्क की रचना कुछ ऐसी बनी है कि भिन्न २ रीति से प्रकट होती है। एक मनुष्य व्याख्यान देता है प्रत्येक श्रोता उसे अपनी बुद्धि के अनुसार समझता विचार करता और वर्णन करता है। जब मनुष्य देश प्रेम अथवा किसी अन्य भाव प्रभाव में होता है तो उसे सत्य का रूप और दिखाई देता है। परंतु वही पुरुष भयभीत हुआ २ सत्य को देखता है। उसका आकार सर्वथा बदला हुआ पाता है। अमरीका के फिलौस्फर जेम्ज़ की फिलौस्फी जो कि प्रग्मेटिज्म के नाम से विख्यात है इस नियम पर निर्भर

है कि निरूपाधि (Absolute) शुद्ध सत को जानना एक असङ्गत विचार है। प्रत्येक पुरुष का सत का विचार उस की मानसिक अवस्था के अनुसार हुआ करता है। जो बात एक पुरुष के मन की विशेष अवस्था में उसे संतोष या आनंद दे सकती है वही उसके लिये सत है। इस फिलौस्फी के अनुसार इस बातकी कुछ चिंता नहीं, कि वस्तुतः कोई ऐसा भाव है या नहीं जिसको सामान्य पुरुष ईश्वरके नाम से पुकारते हैं। केवल इतना उपयुक्त है कि क्योंकि परमात्मा का एक विचार उनलोगों को लाभ पहुंचाता है इस लिये उनके लिये वह सत का सामान रखना है। गीत के द्वितीय अध्याय के ६९ वें श्लोक में इस प्रकार का विचार प्रकट किया है। जो अज्ञानी की रात्रि है वह ज्ञानी का दिन है और मूर्ख का दिन ज्ञानी के लिये रात्रि है।

अन्तिम तत्त्व।

३४-गीता के द्वितीय अध्याय का २९ श्लोक कहता है। "कई उसे आश्चर्य देखते, कई आश्चर्य कहते, कई आश्चर्य सुनते हैं परंतु यह सब कुछ करते हुए कोई उसे जानता नहीं।" छान्दोग्य उपनिषद् ने बड़ी सुन्दरता से यह रहस्य प्रकट किया है कि यह सब किस के आश्रय है। आदि से लेकर अध्याय २ में क्रमवार बिवरण करने का यत्न किया गया है। एक अध्याय में वर्णन आता है कि सूर्य्य के प्रकाश से प्राणियों का जीवन होता है। चन्द्रमा से तृणादि जाति का जीवन होता है। इस कारण कदाचित् चन्द्रमा सूर्य्य के ही आश्रय यह सब चलता है। जब "सत्य काम" ज्ञान के अन्वेषण में एक ऋषि के पास जाता है तो उसे बड़े लम्बे चौड़े दृष्टांत दे कर ऋषि बताता है कि कदाचित् यह अग्नि ही ब्रह्म है जो सब कुछ भक्षण करती है। आगे चल कर कदाचित् यह प्राण है जो सब को चलाता है अतएव प्राण ही ब्रह्म है। "श्वेत केतु" से उस के पिता ने उस की विद्या समाप्त होने पर पूछा कि वह कौन सा एक तत्त्व है जिस के जानने से यह सब कुछ जाना जाता है। जैसे मुट्ठि भर धूलि से समस्त पृथ्वी का ज्ञान हो जाता है। जब "श्वेत केतु" को उस का उत्तर समझ न आया तो उदालक ने उसे समझाने के लिये प्यासा रखकर बताया कि यह जल ही जीवन का

आश्रय है। यही ब्रह्म है। फिर भूखा रख कर बताया कि यह अन्न ही जीवन का आश्रय है और अतएव यही ब्रह्म है। जब ठीक बुद्धि में न आया तो लवण और जल के दृष्टांत से यह समझाया कि जैसे यह लवण जल में घुला हुआ है, दिखाई नहीं देता, वैसे ही वह तत्व सब के अंदर है परंतु दिखाई नहीं देता, आगे चलकर नारदमुनि सनत्कुमार से ब्रह्म जानने की इच्छा करता है तो वह उसे बताता है कि वेद, अग्नि, सूर्य्य आदि यह सब उस एक ब्रह्म के (Symbols) अर्थात् चिन्ह हैं। इन सब से उस का ध्यान करो। अन्त में जाकर प्रजापति इन्द्र को बताता है कि मन, प्राण, वाणी, सब से पार वह ब्रह्म है। इस ब्रह्म को "भूमा" कहते हैं क्योंकि यह सब कुछ उस के आश्रय पर है। वह किसी के आश्रय पर नहीं।

३५–न्याय और योग दर्शन तीन अन्तिम तत्वों को स्वीकार करते हैं, अर्थात् प्रकृति, आत्मा और ब्रह्म प्रकृति जड़ रूप है। जीवात्मा अल्पज्ञ, पाप, पुण्य करने वाला और फल भोगने वाला है और ब्रह्म सर्वज्ञ इन सब को चलाने वाला और रचने वाला है। सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष दो अन्तिम तत्व ही पर्याप्त समझता है जिन के परस्पर मेल से यह सब ससार चल रहा है। सांख्य का ब्रह्म के विरुद्ध यह बड़ा आक्षेप है कि वह इस संसार को क्यों बनाता है, या तो अपनी इच्छा से या बाधित हो कर यदि इच्छा से ऐसा करता है तो उसे क्या आवश्यकता है, और यदि बाधित होकर तो वह परमात्मा ही नहीं रहता। उसे बाधित करने वाली कोई और शक्ति है।

वेदान्त, प्रकृति और पुरुष के स्थान पर केवल एक ही तत्त्व मानता है और वह ब्रह्म है। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति के प्रकट होने का नाम है।

३६-बुद्ध फिलौस्फी के अन्दर इस सिद्धांत पर तीन बड़े मत पाये जाते हैं। एक क्षणिक वाद। उन का विचार है कि यह संसार केवल परिवर्तन का नाम है। प्रत्येक वस्तु क्षण २ में परिवर्तित होती रहती है। कोई वस्तु स्थिर नहीं। इस का दृष्टान्त नदी है। जल की तरङ्ग और मट्टी के तट को नदी कहते हैं। यह तरङ्ग और तट दोनों क्षण २ में परिवर्तित होते रहते हैं अतएव परिवर्तन का होना ही नदी का नाम है। इसी प्रकार दीपक की जोत है जिसमें प्रतिक्षण बत्ती और तेल बदलता रहता है। संसार का एक और दृष्टान्त अग्नि चक्र है जिस में लकड़ी के दोनों अन्तों को आग लगा कर उस को बल पूर्वक फिराने पर अग्नि का एक चक्र उत्पन्न हो जाता है। द्वतीय विज्ञान् वाद अर्थात् (Idealism) जो कि सब बाह्य संसार को मन की कल्पना मानता है। स्काटलैण्ड के फिलौस्फर बर्कले और ह्योम का मत विज्ञान वाद से मिलता है। इस के द्वारा जो कुछ हम जानते हैं वह केवल इन्द्रियों के द्वारा हमारे मन के संस्कार हैं यथा एक मेज का ज्ञान हमारे लिये केवल इस के रंग, परिमाण, दृढ़ता और कोमलता में है जो कि हमें स्पर्श करने और देखने के द्वारा विदित होता है। वस्तुतः मेज़ क्या है हम नहीं जानते। इसी प्रकार समस्त संसार इन प्रभावों की संघटा कही जा सकती है। यह संस्कार मन के द्वारा होते हैं अतएव यह

संसार मन की शक्ति से बना हुआ है। तृतीय शून्यवाद है। इस का अभिप्राय है कि इस संसार का वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है। मन से यह कल्पना होती है। मन न रहने पर कल्पना भी उड़ जाती है। इस से भिन्न संसार कुछ नहीं।

३७–जर्मन फिलौस्फरों में सबका शिखर काण्ट (Kant) है जो कि फिलौस्फी में बढ़ा चढ़ा है। उस के विचार में यद्यपि यह संसार केवल संस्कारों का ही संग्रह है तथापि मन के भीतर कई संस्कार उत्पन्न करने की स्वमेव शक्ति विद्यमान् है। उन का बाहिर से कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। यथा, काल, देश का संस्कार हमारे मन में पाया जाता है परंतु काल और देश बाहिर में कोई सत्ता नहीं रखते। यह सब संस्कारों को मन के विभिन्न भागों में विभाग करता है इस के अतिरिक्त न हम संसार को कुछ जान सकतेहैं और न सामष्टिक मनको या (Cosmic-mind) जो ब्रह्माण्ड के अंदर काम करता है। हैगल और विधि पर चलता है। वह कहता है कि एक असत् है दूसरा सत् है। दोनों के संयोग से संसार बनता है। वह सत् को एक प्रकार की निरुपाधि बुद्धि समझता है जिस का विस्तार यह सब संसार है।

फिशटे (Fichte) का मत है कि यह संसार अहंकार अर्थात् (Ego) से ही बनता है। शायन हावर जो कि काण्ट को छोड़ कर सांख्य और उपनिषदों की फिलौस्फी को पर्याप्त समझता है और अपने व्याख्यानों में बार बार उन के प्रमाण देता है। किंतु श्लोकों के

श्लोक लिखता है। संसारिक वासना अर्थात् (Cosmic-will) को संसार का कारण समझता है वह वृक्षों और प्राणियों के दृष्टांतों से प्रतिपादन करता है कि इन सब के अंदर वासना विद्यमान है जो कि संसार को उत्पन्न करती है। इस वासना को नाश करने पर ही संसार का अंत हो जाता है।

३८–गीता के १५ अध्याय के श्लोक १६, १७, १८ में कहा है कि दो पुरुष हैं। एक नाशवान् और दूसरा नाश-रहित। पुरुषोत्तम और है जो इनसे पृथक् इस सारे जगत् को अवलम्बन किये हुए है। वह मैं हूं। इसलिये वेदों में मुझे पुरुषोत्तम कहा है। ७ अध्याय के श्लोक ५, ६, ७ में यह बताया है कि पर और अपर प्रकृतियें दोनों मेरी हैं। इन दोनों से सकल संसार उत्पन्न होता है। इस लिये वास्तव में उसकी उत्पत्ति और विनाश मेरे से ही है। यह सब पदार्थ मेरे मिर्द ऐसे पिरोयेहैं जैसे मालाके सूत्र में मन के। मुझसे विभिन्न और कुछ नहीं। अध्याय ९ के श्लोक ४ में कहा है कि मैं अव्यक्त हूं मुझ से ही यह सकल संसार विस्तृत हुआ है। ६ श्लोक में कहा है कि जैसे आकाश में पवन चलता है ऐसे ही अखिल जगत् मुझ में सत्ता रखता है। सांख्य के आक्षेप का उत्तर गीता के अध्याय ५ के श्लोक १४, १५ में आता है कि ब्रह्म इस संसार की उत्पत्ति नहीं करता। यह केवल स्वभाव है जो स्वयमेव काम करना चाहता है। बुद्ध धर्म वाले आक्षेप करते हैं कि यतः इस संसार में केवल गुण ही गुण अर्थात् (Qualities) ही दिखाई देती हैं गुणी के अन्वेषण करने की आवश्यकता ही

क्या है। स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इसका उत्तर दिया है कि यदि सब कुछ गुण ही हैं तो एक स्थान पर दो विरोधी गुण अर्थात् उत्पत्ति और विनाश कैसे पाये जा सकते हैं। एक ही स्थान बनने और नष्ट होने से प्रत्यक्ष है कि गुणों के पीछे गुणों को धारण करने वाली कोई और शक्ति है।

अध्याय ९ के १६, १७ श्लोकों में उत्तर आया है कि वह गुण और गुणी एक ही हैं जैसा कि ७ अध्याय के १९ श्लोक में कहा है कि यह सब वासुदेव ही है। गुण केवल उसको प्रकट करते हैं।

३९—वेद मंत्र कहता है कि अग्नि, वायु, आदित्य आदि सब उसी एक को प्रकट करते हैं। वह एक सत्य है बुद्धिमान पुरुष उसे बहुत नामों से पुकारते हैं। और वेद मंत्र हैं जिन में यह बताया है कि शुद्ध ब्रह्म हमारी बुद्धि और विचार की शक्ति से बाहिर है। उस ब्रह्म को हम केवल उसकी रचना द्वारा ही जान सकते हैं जैसा कि हम मनुष्य को केवल शरीर से जानते हैं। विराट् रूप में प्रकट हुआ ब्रह्म शबल ब्रह्म कहलाता है।

उपनिषद् में कहा है कि ब्रह्म में ईक्षा हुई कि इन जीवों में प्रविष्ट होकर नाम और रूप की व्याख्या करूं। यह ब्रह्माण्ड केवल नाम और रूप से जाना जाता है।

गीता के १३ अध्याय के १३ श्लोक में कहा है कि उस ब्रह्म का आद्यन्त नहीं। न उसे सत् कह सकते हैं न असत्। १५ अध्याय के ११, १३, १४ श्लोकों में कि सूर्य, अग्नि, चंद्र की ज्योति मैं ही हूं। पृथ्वी में मेरी ही शक्ति सबको आश्रय देती है। चन्द्र में मैं ही सोम बनकर तृणादि की वृद्धि

करता हूं। सर्व प्राणियों में मैं वश्वानर होकर जीवन स्थापित रखता हूं। अध्याय ९ के १५ श्लोक में वही वेद मंत्र का अभिप्राय है कि ज्ञानी लोग मुझ एक को विश्व के समग्र पदार्थों में प्रकट हुआ २ जानकर पूजते हैं। इसी आशय को सन्मुख रख कर १३ अध्याय के १४ श्लोक में कहा है कि वह हर प्रकार से निर्गुण है किन्तु वही सर्व गुणों को धारण करने वाला भी है जिसका तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष निरूपन करने से वह निर्गुण और सापेक्ष भाव से वह हम को सब गुण रखता हुआ प्रतीत होता है।

४०—९ अध्याय के ४,५ श्लोकों में लिखा है "हेअर्जुन! मैं तुमको सबसे बड़ा और गुप्त भेद बताता हूं। वह यह कि मुझ अव्यक्तसे यह संसार विस्तृत हुआहै। सर्व उत्पन्न वस्तुयें मेरे अंदर हैं परंतु मैं इनमें नहीं हूँ, और यह समग्र उत्पन्नवस्तुयें नहीं भी हैं। मेरी अद्भुत शक्ति को देखो। मेरा आत्मा सकल जगत को उत्पन्न करता है। यद्यपि वह यह सब कुछ है तथापि वह इनमें नहीं है।" एक उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर सकता है। यथा, लेखक के चित्त में पुस्तक का अथवा चित्रकर के चित्तमें चित्रका फोटो विद्यमान् होता है। वह फोटो चित्रकर का है और चित्रकर उसके अंदर है। इन अर्थों में कि चित्रकर का शिल्प और योग्यता इससे प्रकट होती है परंतु पुस्तक अथवा चित्र से लेखक अथवा चित्रकर को जाना नहीं जा सकता, अतएव वह उससे पृथक् होता है। सर्व सृष्टि ब्रह्म के अंदर एक चित्र की नाईं है। हम सब उस चित्र के एक भाग हैं। यदि इस चित्र को उपाधि कहा जावे तो हम भी उपाधि

का एक अंश हैं। हमारा सारा ज्ञान उपाधि सहित हो सकता है। हमारे विचार से यह सारा ख्याल या चित्र सर्वथा सत्य और ऐसी ही सत्ता रखने वाला है जैसा कि हम अपने अस्तित्व को मानते हैं। परंतु ब्रह्म का ज्ञान उपाधि रहित निर्विकल्प है इसके अनुसार उस चित्र की वास्तविकता कुछ ऐसी ही कही जा सकती है जैसे कि हमारे ख्याली दुर्गों की। हमारी दृष्टि में दोनों ओरों से विचार करने पर परिणाम यह निकलता है कि जिस सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में हम ब्रह्म का अन्वेषण करते हुए क्यों इत्यादि प्रश्न करते हैं वह ब्रह्म के लिये कोई विशेष सत्ता नहीं रखती। स्वामी शङ्कराचार्य्य इस बात को दूसरे शब्दों में प्रकट करता है। वह कहता है जब लों माया का प्रभाव प्रबल होता है तो उस समय जैसे स्वप्न के क्रम में यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता कि यह स्वप्न क्यों हो रहा है। यह प्रश्न भी अशुद्ध होता है कि यह संसार क्यों बनाया? माया का प्रभाव दूर हो जाने पर ज्ञान चक्षु खुल जाती हैं और यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता।

पश्चिमी विद्वान्।

४६–आधुनिक काल के फिलौसफर भी अंतिम तत्त्वों के विषय में इन ही परिणामों पर पहुंचते हैं। हरबर्ट स्पैन्सर अंत के दो तत्त्वों को मानता है जिन्हें वह द्रव्य और शक्ति अर्थात् Matter और Force कहता है। इन के विषय में तत्त्व को जानने के योग्य न होने से इनको वह अव्यक्त

का पद देता है। हैकल एक पद आगे बढ़ कर यह कहता है कि द्रव्य और शक्ति दोनों एक ही पदार्थ हैं। वह इसे पदार्थ Substance का नाम देता है और शापनहावर के समान अद्वैत को ठीक मानता है। शापनहावर ने तो कहा कि अद्वैत एक प्रकार की नास्तिकता है। यदि ब्रह्माण्ड अपनी अभ्यंतर शक्ति से चल रहा है और इससे पृथक् और कोई सत्ता नहीं, तो अल्लहा मियां (परमात्मा) को स्पष्ट उत्तर मिल जाता है।

हैकल कहता है कि अद्वैत में परमात्मा प्रकृति से विभिन्न और ऊपर से काम करने वाला नहीं। यह दोनों एक ही हैं। इसका प्राकृतिक परिणाम यह है कि केवल वेदांत ही वर्तमान विज्ञान का धर्म हो सकता है। मेज़िनी भी इस बात की पुष्टि करता है। वह कहता है कि मैं आत्मा के अनन्त व्यक्त रूपों को मानता हूं। आत्मा एक भूमि से दूसरी में उन्नति करता हुआ पहुंचाता है। इसे सदैव नरक की अग्नि में रखना न केवल परमात्मा के न्याय और दया से परे है परंतु उसके विरुद्ध एक दोष है। तुम्हारा धर्म परमात्मा को मानुष्यक पद पर ले आता है। मेरा धर्म मनुष्य को उन्नति करते २ परमात्मा बनाता है दया पर आशा रखनी व्यर्थ है। केवल पुरुषार्थ ही शिखर पर ले जाता है। इस प्रकार मेरा धर्म निरंतर जीवन की उत्तरोतर उन्नति का क्रम है।

प्राचीन तत्ववेत्ता।

४२–पुरातन काल के फिलौस्फर लोग भी इसी विचार पर ही आ ठैरे हैं। मिश्र में भी प्राचीन काल से वेदांत का बीज विद्यमान् रहा है। फेसागौरस ने आर्यन फिलौस्फी की तरंग को युनान में चलाया और साथ ही आत्मा के आवागमन के विचार का ही प्रचार किया। आयोनिक शाखा के फिलौस्फर अनैकसामण्डर ने यह शिक्षा फैलाई कि संसार ही ब्रह्म है। इसी में ही बारंबार प्रलय और उत्पत्ति होती रहती है। ऐम्पोडेक्लेज़ भी प्रकृति और पुरुष को एक मानता था। मध्य काल में दोनों सैमेटिक मतों रोमनकैथोलिक चर्च और इस्लाम ने इस सिद्धांत को दबाने में अत्यंत यत्न किया। गीआर्डी नौब्रूनो को रोमा में इन विचारों के रखने और प्रचार करने के बदले में ज़िंदा जला दिया गया। शमस अल्ब्रेज़ और मनसूर इस्लाम की क्रूरता और अत्याचार की भेंट हुए तथापि ईरान में अलगज़ाली और हाफिज़ और सीरया में जलालदीन रूमी इस विचार के अंदर मग्न रहे और प्रचार करते रहे। योरुप के फिलौस्फर स्पाईनोज़ा और गेटे इस विचार के रंग में रंगे थे।

सृष्टि उत्पत्ति दैविक विकाश

४३–गीता के अध्याय १० के ८ श्लोक में कहा है कि सृष्टि मुझ से उत्पन्न हुई है। अध्याय ९ का १० श्लोक कहता है कि मुझ अध्यक्ष से चर और अचर सृष्टि होती है। अध्याय १४ के श्लोक ३ में लिखा है कि मेरी योनि महत् ब्रह्म है, जिस में बीज डालता हूं और जिस से सब कुछ उत्पन्न होता है। यद्यपि हम कोई स्रष्टा मानें या न तथापि इस को तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि संसार में परिवर्तन का एक ही नियम काम करता है। बौद्ध लोग इसे कारणात्मक नियम करते हैं जिसे हम कार्य कारण के सम्बंध का नाम दे सकते हैं। कोई वस्तु संसार में अकस्मात् या यदृच्छया नहीं होती परंतु प्रत्येक वस्तु का पहिले कारण होता है जिस का यह कर्य्य होती है और फिर कारण बन कर और कार्य्य उत्पन्न करती है। प्रसिद्ध प्रश्न, कि बीज पूर्व है कि वृक्ष। इसी प्रकार खुलता है कि "बीज कारण है और कारण प्रकृति के सग सदैव विद्यमान रहता है।" एक दीपिका सहस्रों भिन्न कारणों के होने से बनती है और उस के प्रकाश होने पर कितने ही भिन्न परिणाम उत्पन्न होते हैं। कार्लायिल ने एक स्थल पर वर्णन किया है जब हम एक पाषाण को उठा दूसरे स्थान पर फेंकते हैं तो उस से भूमि की आकर्षण शक्ति बदल जाता है।

कारण भेद।

४४-शास्त्रों में कारण के तीन भेद कहे गये हैं। उपादान कारण, यथा मिट्टी घट का उपादान कारण है। निमित्त कारण यथा कुम्हार। तृतीय साधारण कारण यथा साधन इत्यादि। संसार में जो कुछ हमें हमारे इन्द्रिय गोचर होता है उस सब का उपादान कारण प्रकृति है। वैशेषिक दर्शन में प्रकृति के २२ तत्त्व बताये हैं।

आजकल रसक्रिया Chemistry जानने वाले ७२ तत्त्वों को मानते हैं। किन्तु रेडियम Radium के जानने से रसक्रिया में परिवर्तन आगया है। अब यह सिद्ध हुआ है कि यह तत्त्व भी ऐसे और अधिक सूक्ष्म अणुओं से बने हैं। एक तत्त्व के अणु दूसरे तत्त्व के रूप में परिवर्तन हो जाते हैं जिसके यह अर्थ हैं कि द्रव्य, वस्तुतः केवल एक प्रकार के अणुओं का मेलाप है। इन सूक्ष्म अवयवों को और अणु परमाणु का नाम दिया गया है। एक अणु का व्यास $\frac{१}{५००००}$ इञ्च का होता है और परमाणु का अंश $\frac{१}{५०००००००}$ इञ्च माना गया है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि एक घन इंच वस्तु में २१०००००००००००००००००००० अणु पाये जाते हैं।

४५-भौतिकी विद्या भी इस परिणाम पर पहुंचती है कि समग्र प्राकृतिक शक्तियें, विद्युत, ताप, शब्द, प्रकाश, चुम्बक शक्ति सब एक दूसरे में बदल सकती हैं। यह सभी एक ही शक्ति से निकली हुई मानी जाती हैं जिसे Force or energy कहा जाता है। यह शक्ति गति का नाम है जो द्रव्य के भीतर काम करती है। यह गति प्रायः साकम्प गति

Vibratory में दिखाई देतीहै। वायुमें गति होनेसे शब्द, स्थूल पदार्थों में गति से ताप, सूर्य्य की किरणों की गति से वस्तुओं के रंग बनते हैं। यदि कोई वस्तु सूर्य्य की सातकिरणों को अपने अन्दर निगीर्ण करे तो वह काले वर्ण की और यदि सब वर्णों को वापिस कर दे तो श्वेत वर्ण की दिखाई देती है। स्पैन्सर कहता है कि द्रव्य और शक्ति कभी पृथक २ नहीं रह सकते। यह सारा ब्रह्माण्ड उन दोनों के क्रमशः गुण और विभाग का परिणाम है। आज कल यह ख्याल अधिक जोर पकड़ता जाता है कि द्रव्य और शक्ति वास्तव में दोनों एक ही हैं। भेद केवल इतना है कि साकम्प गति अतीव तीव्र होने पर शक्ति के रूप में और अत्यन्त मंद होने पर द्रव्य के रूप में प्रकट होती है।

४६-विज्ञान, पदार्थोंके वाह्य अनुसंधानमें बाहिरसे चल कर अन्दर को जाता है। फिलौसफी और धर्म ब्रह्माण्ड का अभ्यंतर अन्वेषण करते हुए इन अन्तिम तत्वों पर आकर मिल जाते हैं। गीता के द्वितीय अध्याय का २८ श्लोक कहता है कि हम पदार्थों के आद्यन्त को नहीं जान सकते। केवल उनकी मध्यम अवस्था को समझ सकते हैं। केवल इतना तो दृष्टिगोचर होता है। कि द्रव्य जड़ होने के कारण अकेला कुछ नहीं कर सकता। शक्ति बिना ज्ञान अन्धी है। अतः गीता के सप्तमध्याय के ५, ६ श्लोकों में कहा है कि पर और अपर प्रकृतियें अर्थात् द्रव्य और शक्ति मुझ से आश्रय लेकर चलती हैं। अष्टाध्याय के २०, २१ तथा २२ में भी स्पष्ट लिखा है। कि इन तत्वों से परे एक और बड़ा अव्यक्त है जो कि कभी प्रकट नहीं होता और सब कुछ

इस से प्रकट होता है। पंचदश अध्याय के १७ वें श्लोक में उसे पुरुषोत्तम कहा है जो कि इन दोनों पुरुषों अर्थात् क्षर और अक्षर से परे है और त्रयीलोक के अन्दर रहता हुआ उनको आश्रय देता है। ऊपर कहा गया है कि इस पुरुषोत्तम का जानना तो एक ओर रहा हम द्रव्य और शक्ति प्रकृति की दोनों अवस्थाओं की वास्तविकता को भी नहीं जान सकते। केवल इनके द्वारा पड़े हुए संस्कारों का हमें ज्ञान होता है। इनसे ही हम इतना समझ सकते हैं कि वह इन शक्तियों का धारण करने वाला ब्रह्म है। आश्चर्य की बात है कि साधारण धार्मिक पुरुष प्रकृति के ज्ञान से तो इतनी घृणा करें। जिस ब्रह्म का कोई ज्ञान होना संभव नहीं उसे एक निर्माता का रूप देकर उसके ज्ञान के इतने लम्बे चौड़े प्रतिपादन करें।

४७–चतुर्दश अध्याय के ४, ५ में लिखा है कि जो कोई पदार्थ किसी रूप में प्रकट होता है महद्ब्रह्म उसकी योनि है। मैं इसमें बीज देने वाला पिता हूं। यह प्रकृति सत्व, रज, तम तीन गुणों वाली है। यह गुण जीव को शरीर से बांधते हैं। १३ अध्याय के ५, ६ में कहा है कि मूल प्रकृति (अव्यक्त) बुद्धि (महत्त्व) अहंकार और पञ्च महातत्त्व, ग्यारह इन्द्रियां और पञ्च तन मात्रा, इच्छा द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतनता और साहस यह सब प्रकृति के ही विकार हैं। सांख्य संसार में सबसे पुरातन फिलौसफी है जिसमें कि सृष्टि की उत्पत्ति के लिये विकाश के सिद्धांत की शिक्षा दी है। उत्पत्ति शब्द ही जो कि सृष्टि की उत्पत्ति के लिये प्रयोग किया जाता है उत्क्रान्ति के शब्द की व्युत्पत्ति को

प्रकट करता है। उत्पत्ति का जो क्रम गीता में है वह मनु आदि और कई पुराणों में भी वैसा ही पाया जाता है, जिसके अनुसार ब्रह्म दो शक्तियों में प्रकट होता है। मनु में कहा है कि आधा ब्रह्म स्त्री बना। सम्भव है कि तोरेत में आदमके पार्श्व से हौआ का निकलना इसी विचार से लिया गया हो। पुरुष और प्रकृति को कविता में वीर्य और रज की नाईं वर्णन किया गया है। प्रकृति से महत्त्व अर्थात् बुद्धि बनती है। इस बुद्धि को गीता में योनि कहा है। मनु में इसको हिरण्यगर्भ अण्डा बताया है। इस महत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से भिन्न प्रकार का विभाग आरम्भ होता है। अहंकार ही विभाग को उत्पन्न करता है। किसी प्राणि से भी यदि यह प्रश्न किया जाये कि सृष्टि के कौन से दो भाग हैं तो वह भी उत्तर देगा कि एक मैं और शेष समस्त संसार। अहंकार से सृष्टि के दो भाग होजाते हैं। इंद्रिय सहित और निरिन्द्रिय। इन में पूर्व से पांच ज्ञान इंद्रियां, पांच कर्म इंद्रियां। दूसरे से पांच तन मात्रा अर्थात् पृथिवी जल, आकाश, अग्नि, वायु बनते हैं। आकाश का गुण शब्द है। आकाश बदल कर वायु, जिसका गुण स्पर्श है तेज जिसका गुण रूप है, तेज से जल जिसका गुण रस है, जल से मिट्टी जिसका गुण गन्ध है, यह सब उत्तरोत्तर आने वाले हैं। एक२ गुण अधिक ही होता जाता है। इन पांच और मन और बुद्धि मिलकर सात तत्त्वों के मिलने से यह सारी सृष्टि बनती है।

गीता के १० अध्याय के ६ वें श्लोक में सप्त ऋषि और चार पूर्वज और मनु की उत्पत्ति का वर्णन है। वह विशेष

पुरुषों की ओर निर्देश प्रतीत नहीं होता परंतु जैसा मांडूक्य उपनिषद् में लिखा है सप्त ऋषि से तात्पर्य सप्त इन्द्रियां हैं। चार पूर्वज मन, चित, बुद्धि, अहंकार हैं। मनु से तात्पर्य मनुष्य है। इस श्लोक के पूर्व और अनंतर के श्लोकों में भी केवल गुणों का वर्णन पाया जाता है पुरुषों का नहीं। यह सक्षिप्त वृत्तान्त है जो कि आर्य-शास्त्रों में प्रकृति से इन्द्रिय विकास का है।

४८–आधुनिक विज्ञान जी उन्नति हो जाने पर जो मत सृष्टि-उत्पत्ति का स्वीकार किया गया है वह लीप्लेस और काण्ट की नेबुलर थ्युरी है। यह मत आर्यशास्त्रों के सिद्धान्त को ही स्पष्ट शब्दों में वर्णन करता है। भेद इतना है कि इसमें ब्रह्म और पुरुष का कोई वर्णन नहीं। यह केवल प्रकृति से ऐसे आरम्भ होता है।

सबसे पूर्व प्रकृति परमाणुओं के वाष्परूप में थी। उन को नेबुलो कहा गया है। उन वाष्पोंमें गति आरम्भ हुई जिस से इनकी आकृति आकाश के रूप में परिवर्तित हुई। शक्ति गति के रूपमें प्रकट होकर दो प्रकार की हो जाती है। एक स्वकेन्द्रविषयक और दूसरी परिधिविषयक यह गति अत्यन्त तीव्र होती है। इसकी तीव्रता से गैस वाली अग्नि के कई खण्ड चक्रों के रूप में बन जाते हैं। मध्य में सब से बड़ा गोला रहता है जिसकी पदवी सूर्य की होती है। उस के चारों ओर नक्षत्र उत्पन्न होजाते हैं जिनमें से एक भू गोल है। शनैः २ यह गोले अपनी उष्णता बाहिर निकलने पर शीत होने आरम्भ हो जाते हैं। पहिले तो द्रव्य रूप में फिर अधिक शीत होने पर स्थूल रूप धारण कर लेते

हैं। स्थूल होने के पश्चात् वे इस योग्य होते हैं कि उनपर प्राणी रह सकें। भूमि के अभ्यंतर भाग में अभी तक अग्नि ही अग्नि है। यदि भूमि को एक सहस्र फुट नीचे खोदा जाये तो जल उबलने का ताप होता है। यह उष्णता प्रति दिन सूर्य, भूमि इत्यादि सब गोलों से निकलती रहती है। जब सूर्य्य का ताप बहुत न्यून हो जायेगा तो उस समय भूमि के टुकड़े २ होकर चिकनाचूर हो जायगी। इसके अनंतर इसके अंदर उत्पत्ति क्रम के प्रतिकूल कार्य आरम्भ होता है। आर्य शास्त्रों में इसे प्रलय कहा है। एक काल आता है जब कि सारे ब्रह्माण्ड में वह कार्य आरम्भ हो जाता है। उसे महाप्रलय कहते हैं। चराचर सब लुप्त हो जाते हैं। गंध को निगीर्ण करके सारेमें जलही जल होजाता फिर इस सब को अग्नि भक्षण कर लेती है। उसमें सूर्य भी अस्त हो जाता है। फिर वायु सब को निगीर्ण करती है। रूप नहीं रहता। फिर स्पर्श आकाशमें मिल जाता है और केवल शब्द ही रह जाता है। शब्द को मन निगीर्ण कर लेता है। मन और बुद्धि इन सब को काल भक्षण कर जाता है और काल ब्रह्म में लय हो जाता है।

४६–इस ब्रह्माण्ड की विस्तृत और प्राचीनता का अनुमान ज्योतिष तथा भूगर्भ विद्या इत्यादि विद्याओं से लगाया जा सकता है। यह एक सत्य है कि प्रकाश की गति एक लक्ष छयासी सहस्र मील प्रति सैकण्ड है। सूर्य इतना दूर है कि सूर्य का प्रकाश भूमि तक पहुंचने में आठ मिण्ट लगते हैं। बुध आदि कई तारे हैं जिनका प्रकाश भूमि तक आने में कई दिन लगते हैं। ऐलफा सेण्टार

(Alpha centaur) वे तारे हैं जिनकी ज्योति तीन वर्ष के पश्चात् भूमि तक पहुंचती है। साईरस Ciris की ज्योति बीस वर्ष के अनंतर, आकाश-गंगा Milpy way तारों की दो सहस्र वर्ष काल के पश्चात् भूमि तक आती है। कई ऐसे नेबोली हैं जिनका प्रकाश उत्पत्ति के समय से चल रहा है और अभी तक भूमि पर नहीं पहुंचा। इसी प्रकार भूविद्या का बड़ा विद्वान् हैक्सले लिखता कि भूमि की बनावट के अंदर भिन्न प्रकार की तैहें पाई जाती हैं। इनमें से प्रत्येक तैह की बनावट में भिन्न २ काल व्यतीत होते हैं। भूमि के अंदर एक तैह कोईला की है जिसकी बनावट में साठ लाख वर्ष का काल लगा है। चार्सलायल ने चाक की तैहों की बनावट से अनुमान किया है कि भूमि को वर्तमान अवस्था में आने तक २० कोड़ वर्ष व्यतीत हुए होंगे। इससे पूर्व का अनुमान लगाने के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। इसके सामने पर आर्य ज्योतिष लगभग एक अनुमान सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय का हमारे सन्मुख उपस्थित करता है।

——:०:——

आर्य्य ज्योतिष ।

५०-गीता के आध्याय ८ के १६, १७, १८, वें श्लोकों में ब्रह्म रात्रि और दिन को एक सहस्र युगों का बताया है वह म लोक अव्यक्त रात्रि से निकल कर एक सहस्र वर्ष पर्यन्त दिन की दशा में रहकर प्रलय को प्राप्त हो जाता है। २४, २५ श्लोकों में दक्षिणायन और उत्तरायण में मरने का वर्णन है। वह

केवल अलंकार के तौर पर अज्ञान और ज्ञान की अवस्थाओं से तात्पर्य है। दक्षिणायन और उत्तरायण से युगों की गणित प्रारम्भ होती है। ज्योतिष शास्त्र में सृष्टि के दिन तथा रात्रि का अनुमान इस तरह पर लगाया गया है। छः मास का उत्तारायण देव का दिन और छः मास का दक्षिणायन देव की रात्रि कहलाती है। इस प्रकार के ३६० दिन और रात्रि मिल कर देव का एक वर्ष बनता है। ऐसे ४४०० देव वर्ष का सत्ययुग, ३३०० देव वर्ष का त्रेता, २२०० देव वर्ष का द्वापर और ११०० देव वर्ष का कलियुग बनता है। कुल १२००० देव वर्षों का एक महायुग और ७१ महायुगों का मन्वन्त्र और १४ मन्वन्त्रों का बृहम दिन और १४ की बृहम रात्रि। ऐसे एक सौ दिन रात्रि का एक कल्प होता है जिस में सृष्टि का अर्धकाल व्यतीत हो जाता है।

५१-रसायन विद्या समस्त विद्यमान वस्तुओं को सजीव और निर्जीव पदार्थों में विभाग करती है। सजीव द्रव्य में विशेष कर कार्बन का भाग अधिक और पेचीदा मिश्रित द्रव्यों में पाया जाता है। योरुप के विद्वानों को जीवन का बीज अन्वेषण करने के लिये विस्मय से पूर्ण होकर बड़ा विचार करना पड़ा है। जहां तक सजीव द्रव्य का सम्बन्ध है इस की क्रमवार उत्पत्ति और उन्नति विकास के नियम के अनुसार नियमपूर्वक स्पष्ट की जा चुकी है। केवल इतना जानना शेष है कि जीवन का क्यों कर और कहां से आ कर आरम्भ होता है। यह कठिनता अभी तक अनुत्तरित समझी जाती है। जगदीशचन्द्र बोस

के अन्वेषण ने इस प्रश्न पर बहुत सा प्रकाश डाला है। उस ने परीक्षा द्वारा यह सिद्ध किया है कि जीवन सजीव द्रव्य में विशेषतया नहीं प्रकट होता परंतु धातु आदि निर्जीव के अन्दर भी वैसी ही दशा में पाया जाता है। जीवन का बड़ा चिन्ह वृहम पदार्थों से प्रभावित होना और आकर्षण शक्ति और द्वेष निर्जीव के अन्दर भी वैसा ही पाया जाता है। यथा उस ने यह भी सिद्ध किया है कि जब यह धातुवें मर जाती हैं तो इन के अन्दर यह चिन्ह प्रकट नहीं होते। विशेष धातुवें सदैव विशेष आकारों के कृस्टलों में ही पाई जाती हैं। इन आकारों से इन धातुओं की पहिचान की जाती है। उन के मरने के पश्चात् वैसे कृस्टल नहीं बनते आक्सीजन और हाई-ड्रोजन गैस की (जिन के मेल से जल बनता है) परस्पर आकर्षण शक्ति इसी प्रकार की है जैसे पुरुष के वीर्य अर्थात् स्पर्म की स्त्री के रज अर्थात् ओवम से है। कई निर्जीव तत्व परस्पर मेल करते हैं परंतु जब उनको अपना विशेष आकर्षण रखने वाला मित्र भाग मिलता है तो वह तत्काल अपने अचिरस्थायी संगी को छोड़ कर वास्तविक मित्र से जा मिलते हैं। यही गुण आरम्भ के प्रमाणुओं में केन्द्र और परिधि के गिर्द गति के कारण से एक दूसरे की ओर आकर्षण करते और परे हटाते हैं। यही गुण पशुओं में आकर राग द्वेष के रूप में प्रकट होते हैं।

५२–शास्त्रों में जीव के लक्षण राग, द्वेष, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न किये हैं। जीव जीवन के अर्थ में समझना चाहिये। जीवन विद्या के जानने वालों ने भी जीवन के

लक्षण लग भग वैसे ही किये हैं। जीवन का बीज प्रकृति के अन्दर पुरुष बन कर आरम्भ से ही प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान होता है। उस की भविष्य उन्नति इस के बाह्य और अभ्यंतर दशाओं के अनुसार होने पर होती है। प्रत्येक जीवित पदार्थ को बाह्य प्रभावों से प्रभावित हो कर अपने आप को आभ्यन्तरिक रूप में उस के अनुसार करना पड़ता है। विशेष प्रभावों के नीचे बारंबार आने से वह असाधारण शक्तियां उत्पन्न होती हैं जिनको इन्द्रियां कहा जाता है। इन्हीं बाह्य प्रभावों के नीचे प्रत्येक जीव के बाह्य भाग चर्म में स्नसायें (Nerves) उत्पन्न हो जाते हैं। उनके द्वारा संस्कार शरीर में प्रविष्ट होते हैं।

प्राणि विद्या का अध्ययन इस बात को स्पष्ट करता है है कि किस तरह अत्यन्त निकृष्ट प्राणियों में केवल एक ही इन्द्रिय होती है। इस से वे अपना सारा काम सिद्ध करते हैं। ज्यूं २ समीप के हालात बदलते हुए इन पर अपना प्रभाव डालते हैं तो इन में भिन्न २ वासनाओं तथा इन्द्रियों की नियमपूर्वक उन्नति होती जाती है। प्रथम सब प्रभाव केवल चर्म पर होते हैं। शनैः शनैः दृष्टास्थि उत्पन्न हो जाती है। मंद २ उस के साथ मस्तिष्क बनता है। वह मस्तिष्क समझदार प्राणियों के अन्दर अधिक उन्नत अवस्था में होता है। जंगली पुरुष का मस्तिष्क पशुओं के मस्तिष्क के सदृश होता है। सभ्य पुरुष के अन्दर मस्तिष्क बहुत उन्नत अवस्था में पाया जाता है। मानसिक उन्नति के साथ २ इन्द्रियों की उन्नति होती जाती है। इसी प्रकार निरिन्द्रिय अहंकार से उत्पन्न हुए पांच

भूत इन्द्रिय सहित प्रकृति पर प्रभाव डालकर इन्द्रिय की सत्तास्थूल अवस्था में आते हैं। सांख्य इस के साथ एक और बात जोड़ता है, वह यह कि यद्यपि इन्द्रिय सहित प्रकृति पर प्रकाश का प्रभाव पड़ने से नेत्र उत्पन्न होते हैं तथापि देखने की इच्छा पूर्व ही से विद्यमान रहती है।

५३–अध्याय १३ का २० और २१ श्लोक कहता है कि पुरुष और प्रकृति अनादि हैं। सब गुण और विकार प्रकृति में उत्पन्न होते हैं। कार्य कारण के क्रम का स्रोत भी यही है। इकत्तीसवें श्लोक में कहा है कि जो मनुष्य अनेक को एक से निकले हुए जानता है वही ज्ञान को प्राप्त करता है। यथा, सूत्र एक ही है परंतु वस्त्र भिन्न हैं। लोहा एक है किंतु शस्त्र पृथक् २ बनाये जाते हैं। गीता में एक स्थान पर कहा है कि प्रकृति पुरुष का स्वभाव है और पुरुष प्रकृतिसे परे है। जैसे मकड़ी अपने ओर जाला तनती है और रेशम का कीट अपने ओर कूआ बनाता है। ऐसा ही यह सकल संसार प्रकृति से बना है। यह सृष्टि प्रकृति के अंदर गति का परिणाम है जिसमें उत्पत्ति और मृत्यु केवल आकार में परिवर्तन और स्थान के भेद पर निर्भर है। गति एक दूसरे के संबंध से होती है। चलती हुई गाड़ी में बैठे हुए पुरुष को बाहिर की स्थिर वस्तुयें अस्थिर प्रतीत होती हैं। सांख्य का मत है कि प्रकृति अपने आप को पुरुष के सन्मुख पुस्तक के पृष्ठों को नाईं रखती जा रही है। जैसे नौका में बैठ हुए को तट चलता प्रतीत होता है वैसे ही पुरुष घूमती हुई प्रकृति को न जानकर अपने आपको चलता हुआ विचार करता है।

यदि समासतः संसार को देखा जाए तो इसमें गति का होना सम्भव नहीं हो सकता। अतः जब प्रकृति स्थिर हुई तो इसमें न चलना हुआ, न कुछ पैदा हुआ, न कुछ नाश हुआ। इसी विचार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। और न होता है। परन्तु मनुष्य की दृष्टि से उत्पत्ति और प्रलय सत्य है और उनकी ऐसी ही सत्ता है जैसे कि हम और तुम। इन दोनों विचारों को सदैव सन्मुख रखने से गीता के वे रहस्य खुलते हैं जिनको कि हम विरोधी ख्याल करते हैं। यथा गीता के १३ अध्याय के १४, १५, १६ श्लोकों में कहा है कि वह ब्रह्म इंद्रियां नहीं रखता परंतु सब कुछ करता है। वह निर्गुण है किन्तु सब गुणों वाला है। अन्दर बाहिर अचल है परंतु चलता है। दूर से दूर परंतु समीप से समीप है। खण्डित न होने वाला वह खण्डित हुआ २ है। वही सृष्टि को उत्पन्न करता, चलाता और नष्ट करता है।

भौतिक-सृष्टि।

५४-उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा कि बट वृक्ष का एक फल ले आ। वहले आया। उससे कहा कि इसको तोड़ो और देखो कि इसमें क्या है। उत्तर दिया कि इसमें अगण्य छोटे२ बीज हैं। इसके अंदर एक छोटासा बीज उठाकर कहा देखो, इसमें क्या दीखता है। श्वेतकेतु ने कहा, बस इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता। इस पर उद्दालक ऋषि ने कहा कि जिसके भीतर तुमको कुछ दिखाई नहीं देता वहां पर एक विशाल बट वृक्ष है। इस लघु बीज के भीतर वृक्ष का स्कंध, शाखायें, पत्ते और फल उत्पन्न करने की सामग्री विद्यमान है। एक और दृष्टांत लेकर देखें। एक अति सुन्दर नगर है। उसके अंदर बड़े सुन्दर राजभवन मंदिर और कोठियां हैं। यह सब किस वस्तु से बने हैं। ईंट, चूना और पत्थर से। ईंट, चूना और पत्थर क्या वस्तु हैं। यह सब रेत के अणु मिल कर बने हैं। अंत में यह अणु हैं जिनके मेल से इतने बड़े भेदों का प्रकट होना उस नगर के रूप में होता है।

जीवन का सूक्ष्म रूप।

५५-हमने देखा कि अणुओं से सब सृष्टि बनी है। जीवन विद्या हमें बताती है कि सर्व प्रकारके जीव जिनमें वनस्पति भी अन्तर्गत हैं एक अत्यन्त क्षुद्र बीज से बनते हैं जिसे सैल

कोश कहा जाता है। नेत्र देख नहीं सकते। यह अणुवीक्षणी की सहायता से देखे जाते हैं। यह कोश जीवन का केंद्र है। इसे हम जीवन कोश कह सकते हैं। इसी जीवन कोश का आरम्भ अभी तक ज्ञात नहीं हो सका। इसके सम्बंध में कई विचार दौड़ाये गये हैं एक विद्वान् का विचार है कि जब भूमि जीवन उत्पन्न करने के योग्य होगई तो उस समय यह कोश कदाचित् किसी अन्य बसे हुए लोक से गिर कर भूमि पर पहुंचा हो। ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि इस जीवन कोश की रचना और उत्पत्ति की कोई विशेष विधि और समय अन्वेषण करने का वृत्तांत सर्वथा निरर्थक प्रतीत होता है। यदि जीवन कोश का किसी विशेष काल में उत्पन्न होना संभव हो तो सकल वनस्पतियों और प्राणियों के बीजों का भी वैसे ही एक विशेष काल में पृथक २ उत्पन्न होजाना संभव है। जिस दशा में कि विज्ञान सर्व प्रकार के जंतु जीवन कोशके विकासका परिणाम कहती है तो कोई कारण ज्ञात नहीं होता कि सैल क्यों इस विकास के क्रमसे बाहिर करके इसके लिये कोई विशेष आरम्भ ढूंढा जाए। जैसे प्रमाणुओं के अंदर विकाश होनेसे इतने तत्त्व बनतेहैं इनही तत्त्वोंमें इसी कार्य्य से सत्व धातु। इसी प्रकार इन धातुओं के अंदर विकाश के अभियोग से जीवन कोश उत्पन्न हुआ है और इससे सब प्रकार के जीव।

जीवन कोश का वृत्तान्त।

५६–जीवकोश या सैल का रूप अत्यंत क्षुद्र गोले की नाईं होता है। इस के कई भाग होते हैं। जीवन वाले

भाग का नाम प्रौटोप्लाज्म रखा गया है। एक प्रौटोप्लाज्म में १२५००००००० अणु होते हैं। मनुष्य के वीर्य की सैल की परिधि इंच का $\frac{१}{१२०}$ होता है। यह कोश भोजन ले कर पचाता और फैलना आरम्भ करता है। एक के दो दो से चार, चार से सोलह के गुण के हिसाब से बढ़ते हैं। एक सैकण्ड काल में सहस्रों लाखों तक संख्या पहुंच जाती है। एक ही प्रकार के अगण्य कोश मिलकर जब एक ही काम करते हैं तो उन से एक बनता है बहुत से मिलकर अवयवों के भिन्न २ भाग बनते हैं जो अपना२ विशेष काम करते हैं। वनस्पति और पशुओं के अतिरिक्त एक और प्रकार के जीव बैकटेरिया हैं। यह जीव केवल सूक्ष्म दर्शन यंत्र द्वारा दृष्टिगोचर होते हैं। साधारण सूक्ष्म दर्शनयंत्र की सहायता से साधारण नेत्र इंच का लाखवां भाग इंच के दशवें हिस्से के तुल्य देखते हैं। बैकटेरिया की अगण्य जातियें वायु, जल और भूमि के अन्दर पाई जाती हैं। थोड़ी प्रकार के बैकटेरिया मल में उत्पन्न होकर सांक्रामिक रोग उत्पन्न करते हैं। शेष वर्ग हानिकारक नहीं। इनका बड़ा काम सजीव द्रव्य में दुर्गन्ध उत्पन्न करके फिर इसे निर्जीव अवस्था में लाना है। बहुत से बैकटेरिया केवल एक ही कोश वाले होते हैं। जैसे मौनरा। एक का संग्रह इञ्च का $\frac{१}{४००००}$ भाग होता है। यदि घास का जल में आसव निकाल कर रखा जाये तो दो दिन में उनसे भर जायेगा। एमेबा प्रथम जंतु है जो कि सूक्ष्मदर्शनयन्त्र से भली भांति दीख पड़ता है। उसका जीवन कोश स्वयं

विभक्त होकर विस्तृत होता है। पशुओं के अंदर कोश की उन्नति बनस्पति से भोजन प्राप्त करने पर होती है। बनस्पति के अन्दर परिमाण की वृद्धि करने का बड़ा कार्य्यालय है। पत्तों में हरे रङ्ग की वस्तु होती है जिसे क्लोरोफिल कहते हैं। इसका काम यह है कि वायु में से कारबोनिक ऐसिड गैस लेकर जो कि पशु अपने अन्दर से निकालते हैं। सूर्य्य की रश्मियों की सहायता से कोश की मात्रा को बढ़ाये।

जाति भेद।

५७–मनुस्मृति आदि शास्त्रों में सृष्टि को ४ भागों में विभक्त किया है। उदभिज अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न होने वाली बनस्पति स्वेदज अर्थात् पसीने और मैल से उत्पन्न होने वाले जीव; अण्डज अर्थात् अण्डोंसे उत्पन्न होने वाले और जरायुज अर्थात् जेर से उत्पन्न होने वाले वृक्ष जूयें, मछली, पशु आदि इनके दृष्टांत हैं। यद्यपि मण्डूकों के विषय में कहा जाता है कि इनके शरीर के सूखे हुए टुकड़े पड़े रहते हैं और वर्षाऋतु में फिर उनही से मण्डूक उत्पन्न हो जाते हैं तथापि यह तो सृष्टि के विभाग की एक पुरातन स्थूल रीति है। आधुनिक काल में डारविन निसन्देह जीवन विद्या का प्रवर्तक समझा जाना चाहिये। उसने युक्तियों और परीक्षाओं से सब जातियों का एक ही जाति से शनैः शनैः विकास के द्वारा उत्पन्न होना सिद्ध किया है। इस सि-

क्रांत की झलक पातञ्जलि के महाभाष्य के एक वाक्य में मिलती है। वहां लिखा है "जात्यन्तर परिणाम प्रकृतिनु पुरा" अर्थात् प्रकृति को अन्दर निगीर्ण करने से जाति एक दूसरे में बदलती जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि वाह्य प्रभावों से प्रभावित होकर जाति विकास द्वारा उन्नति करती है। इस तरह एप्रेवा अपने अन्दर प्रकृति के गुण एकत्रित करता हुआ एक दिन देवता बन सकता है। एक कोश से सृष्टि का होना सुगम प्रतीत होगा यदि हमें यह ख्याल रहे कि आरम्भ में केवल थोड़े से स्वर मनुष्य से निकले, जिनके पीछे चिन्ह बनाये गये। इन्हीं थोड़े स्वरों के एकत्रित होने से शब्द और शब्दों से भाषा और एक भाषा से सहस्रों भाषायें उत्पन्न हो गई हैं। आरम्भ में केवल दश तक गिनती बनी। इन दश अंकों की नींव पर बड़े विशाल और विस्तृत गणित के नियम बनाये गये हैं।

विकास नियम ।

५८–डारविन ने इस विकास की तैह में एक और नियम काम करता हुआ जाना जिसे योग्य का जिंदा रहना कहना चाहिये। योग्य के यह अर्थ न समझने चाहियें कि वह अवश्य अच्छा ही हो किन्तु वह जो कि अपनी परिस्थिति अवस्था के साथ अधिक अनुकूल होसके। वाह्य अवस्थायें दो प्रकार की हैं। अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल अवस्था को अपने लाभ में प्रयोग करना और प्रतिकूल से बचने की चेष्टा करना जीवन स्थापित रखने के लिये

आवश्यक है। यह प्राकृतिक नियम है कि अनुकूल अवस्था के अंदर रहने से प्रत्येक जीवन को सुख प्रतीत होता है। प्रतिकूल अवस्था के अंदर दुःख होता है। इसी लिये एक के लिये राग और दूसरे के लिये द्वेष बढ़ जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव को अपने आपको जीवित रखने केलिये अन्य जीवों से संग्राम करना पड़ता है। इसी संग्राम के अंदर एक जाति के अंदर भेद उत्पन्न होजाते हैं। और नई जाति बन जाती है। निर्बलों का नाश होता है और बल वाले की उन्नति होती है। यथा, मृगों को बलयुक्त प्राणियों से शिकार होजाने का भय रहता है। तीव्र गति से दौड़ने से ही इनका बचाव है। नियमानुसार केवल वही मृग बच सकेंगे जो कि तीव्रता से दौड़ने की योग्यता रखते हैं। उन्हीं की जाति उन्नति करती है। इसी प्रकार जहां अधिक शीत पड़ती हो वहां लम्बी २ पशम रखने वाले प्राणियों की जाति उन्नति करेगी। दूसरे शीतता से शीघ्र मर जांयगे। वृक्षों पर रहने वाले केवल वही कृमि वृद्धि को प्राप्त होंगे जिनका रंग वृक्षों के पत्तों से अधिक मिलता हो, क्योंकि वे पहिचाने न जाकर सुगमता से शिकार नहीं किये जा सकते। समझदार जीवों की दशा में वही अधिक उन्नति करेंगे जो अपनी सोच से अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बना सकें।

५६–इसी प्रकार जातियां उन्नति करते २ विकास और नियमानुसार अन्त में मनुष्य जाति उत्पन्न होती है। इसी विकास के उदाहरण हम अपने सामने मनुष्य की बनाई हुई वस्तुओं घड़ी, मोटर, साइकिल इत्यादि के अन्दर पाते

हैं। आधुनिक काल की घड़ी को पूर्ण होते कोई तीन सौ वर्ष के लगभग लगे हैं। इस काल में यह कई भिन्न २ रूपों से होकर गुज़री हैं। लकड़ी के खिलौनों से आरम्भ करके सहस्रों प्रकार के भिन्न २ साइकलों के क्रमवार उन्नति का परिणाम वर्तमान साइकिल है। यदि इन मध्यम अवस्थाओं का पता लगाने का यत्न किया जावे तो किसी दुकान से वे पुराने नमूने मिल नहीं सकते। इसी प्रकार प्रकृति भी इन सारे नमूनों को जो उसके काम नहीं आते फेंकती जाती है।

भूमि के सम्बंध में प्राचीन वस्तुओं के ज्ञान के विषय में हमें Archaiology (पुराण वस्तु शास्त्र) से सहायता मिलती है। पुरानी हड्डियोंके अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि इस भूमि पर तीन प्रकार के बड़े प्राणियों को कितना काल लगा है। पहला काल मच्छलियों का काल गिना जाता है जिसकी आयु तीन क्रोड़ चालीस लाख वर्ष है। इस काल में भूमि पर केवल मच्छलियां ही विद्यमान थीं। इसके अनन्तर दूसरा काल रींगने वाले जीवों का है जिसकी आयु का अनुमान एक क्रोड़ दश लाख वर्ष लगाया गया है। इसके व्यतीत होजाने पर वर्तमान काल दूधपिलाने वाले जीवों का आया है जिसकी आयु अद्यपर्यन्त तीसलाख वर्ष व्यतीत हो चुकी है। इस कालों से पहिले दो काल बिना हड्डी वाले गुजरे हैं जिनकी आयु का अनुमान किसी प्रकार भी नहीं लग सकता। इनमें से एक कोशं वाले पश्चात् अनेक कोशों वाले जीव थे। जीवन विद्या का बड़ा विद्वान् हैकल अपनी पुस्तक "लौरटरिंग"

में लिखता है कि जीवन आरम्भ होने से मनुष्य तक पहुंचने में ५६ लाख ७३ सहस्र योनियां होती हैं जो लुप्त हो चुकी हैं या अवशिष्ट हैं। आश्चर्य की बात है की पुराणों में यही विचार पाया जाता है कि जीव को मनुष्य योनि प्राप्त करने तक ८४ लाख योनियों में से गुज़रना पड़ताहै।

६०-विकास के नियम पर बड़ा उपहास इस लिये किया जाता है कि मनुष्य से निचली योनि बन्दर है और मनुष्य एक अर्थ में बानर की संतान हुई। सत्य यह है कि इस बात से घबराने की कोई बात नहीं। सृष्टि के आदि से जब परमाणुओं में विकास का नियम काम करता है जिनसे सारा ब्रह्माण्ड बनता है तो वही नियम जाति के अन्दर काम करके नई नई जातियां उत्पन्न करे तो इस में आश्चर्य ही क्या है। जंगली मनुष्यों के कई ऐसे जंगली कुल पाये जाते हैं जिनको उच्च प्रकार के बानरों से पृथक करना कठिन है। चीन और हिमालय के मध्य जंगलों में ऐसी आकृति के प्राणी हैं जो कि मनुष्य और बानर दोनों से मिलते हैं। अभी जावा में एक पुरानी जाति की हड्डियां मिली हैं जिनको वैज्ञानिकों ने बिना पूछ के बानरों के पिञ्जर समझकर मनुष्य और बानर के मध्य बुलाने वाली जाति की हड्डियां कहा है। हमें बानर से उत्पन्न हुई जाति कहलाने में जो लज्जा आती है वह सर्वथा दूर हो जाए यदि हम अपने आरम्भ का विचार रखें वह स्पर्म निर्बीज क्या होता है जिससे कि हम बनते हैं और फिर नवमास के भीतर उसके आकार में क्या २ परिवर्तन आते हैं। विचार यह है कि इस कालमें वह उन सब अव-

स्थाओं में से हो गुज़रता है जो कि एक सैल को मनुष्य के पद तक पहुंचने में गुज़रनी पड़ी हैं। Embrgfology अर्थात् माता के गर्भ में बच्चे की विद्या के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मनुष्य, सूअर, कुत्ते और शशके के बच्चों की उन्नति गर्भ में बहुत काल पर्यन्त एक ही प्रकार की होती है। वे कई मास लों एक दूसरे के समान होते हैं। पश्चात् विभिन्नता प्रकट होती है। सृष्टि के विकास का नियम यह सिखाता है कि मनुष्य कोई विशेषतया उत्पन्नकी हुई पृथक् सत्ता नहीं किंतु ब्रह्माण्डका ऐसा ही एक टुकड़ा है जैसा कि एक छोटा सा परमाणु। ब्रह्माण्ड के साथ सच्चा भ्रातृभाव इस शिक्षा से उत्पन्न हो सकता है।

६१–बड़ा प्रश्न यह है कि "Ego" मैं हूं का ज्ञान किसको है जैसा कि पहिले वर्णन हो चुका है। मनो विद्या के ज्ञाता बताते हैं कि शरीर के अन्दर प्रत्येक स्थान पर दो प्रकार की नाड़िआं विद्यमान हैं। वाह्य प्रभावों को अन्दर ले जाने वाली संज्ञावाहिनी और अन्दर से बाहर लाने वाली, कार्य प्रवर्तनी नाड़ियां कहलाती हैं। आरम्भिक अवस्था में यह नहीं होतीं। सारा शरीर ही प्रभावित होता है। शनैः शनैः शरीर के चर्म का विशेष भाग इस काम में लग जाता है और बहुत सी योनियां व्यतीत हो जाने पर सुषुम्ना नाड़ी उत्पन्नहो जाती है। उस से अनन्त नाड़ी-जाल चर्म के प्रत्येक स्थान पर पाया जाया है। आगे उन्नति करते हुए रीढ़ के एक अंत पर मस्तिष्क बनना आरम्भ हो जाता है जो कि पशुओं में क्रमशः बढ़ते २ सभ्य पुरुष के अन्दर बड़े परिमाण का हो जाता है। अब प्रत्येक वस्तु

जो किसी नाड़ी पर प्रभाव डालती है वह संस्कार के रूप में रीढ़ अथवा मस्तिष्क में एकत्र हो जाती है। इनको संज्ञा कहना चाहिये। यह प्रभाव सुख तथा दुःख देने वाले होते हैं। जब एक प्रभाव एक बार होकर दूसरी बार होता है तो उससे उसके पूर्व होने का ज्ञान उत्पन्न होता है। यथा नेत्र पर एक चित्र एक बार आता है दूसरी बार वही चित्र आने से ज्ञान उत्पन्न होता है। इन कामनाओं अथवा संस्कारों के एकत्र होने से उनके लिये इच्छा और घृणा का भाव भी बढ़ता है। उनसे हमारे विचार बनते हैं। और उनके सुखमय अथवा दुःखमय होने से उनके पक्ष में अथवा विपक्ष में सम्मति स्थापन करने से संकल्प उत्पन्न होता है। यह इसी कारण है कि वाह्य कामनाओं अथवा संस्कारों का हमको ज्ञान है परन्तु शरीर के अभ्यंतर अवयवों के काम करने का हमको कोई ज्ञान नहीं। गीता के १३ अध्याय के पांच और छः श्लोकों में कहा है कि यह सब विकार परिवर्त्तन क्षेत्र अर्थात् शरीर में उत्पन्न होते हैं। यह सब सत्यता का केवल एक पक्ष है। वास्तविक प्रश्न वहां का वहां ही रहता है कि क्या इन सब कामनाओं और संस्कारों का ज्ञान मस्तिष्क में ही होता है जो कि स्वयमेव मांस का एक लोथड़ा है।

६२–आधुनिक विज्ञान तो इसे पर्याप्त समझता है कि प्रकृति उन्नति करती है। यह सब परिवर्तन प्रकृति के अन्दर ही उत्पन्न होते हैं। परंतु आर्यशास्त्र इसके विरुद्ध मानते हैं कि मस्तिष्क में ज्ञान नहीं हो सकता। जानने वाले को अपने स्वरूप का ज्ञान असम्भव है यथा नेत्र

अपने आपको देख नहीं सकते। यह पुरुष है जो कि चैतन्य रूप में बैठा हुआ प्रकृति के अन्दर यह सब परिवर्तन उत्पन्न करता है। गीता के १३ अध्याय के २१ श्लोक में कहा है कि यह पुरुष है जो कि प्रकृति के इन सब गुणों का अनुभव करता है पुरुष का इन गुणों में बंध जाना ही उसके जन्म मरण का कारण होना है। यदि इस विकास के क्रम के अन्दर प्रकृति के साथ पुरुष को काम करता माना जाये तो यह क्रम एक प्रकार का आत्मिक विकास होजाता है, जिसमें जितने रूप प्रकृति धारण करती है वे सब आत्मा की उन्नति की भिन्न २ पौढ़ियां हैं। उनके द्वारा पुरुष जीवन की अधोगति से आरम्भ होकर उच्च अवस्था की ओर जाता है। स्वामी शङ्कराचार्य यह मानता है कि जिस वस्तु में अहंकार अर्थात् "मैं" का होना पाया जाता है वह प्रकृति के अन्दर सर्वव्यापक शक्ति अर्थात् पुरुष की वैयष्टिक चेतनता है। यही चेतनता जो प्रकृति को भिन्न अवस्थाओं में बदलती हुई अपने विशेष उद्देश को पूर्ण कर रही है। यह उद्देश वही है जो जल के उस बिंदु का है जो मेघ द्वारा अथवा भूमि के अंदर से होकर समुद्र तक पहुंचने के यत्न में लगा है। उसे आवागमन कहा गया है।

६३–रेखागणित में लड़कों को बताया जाताहै कि रेखा और चिन्ह कल्पित बातें हैं। वह कुछ वस्तु नहीं परंतु उन की सत्ता है जिस पर सारे गणित विद्या का आश्रय है। अफलातून कहता है कि यह केवल विचार है जो कि एक शरीर छोड़कर दूसरे में जाता है। शापनहावर कहता है

कि यह केवल वासना है जो कि शरीर बदलती है। बुद्धमत वाले उसे कर्म कहते हैं जो अपनी ओर इंद्रियों का सूक्ष्म शरीर एकत्रित कर लेता है। यह सूक्ष्म एक से दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता है। कर्म की समाप्ति ही इनके विचार में निर्वाण अथवा भक्ति है। बुद्धमत के अंदर पुनर्जन्म का बड़ा दृष्टांत बगोले का दिया जाता है। वायु के अंदर गति एक विशेष रूप धारण करके अपनी ओर मिट्टी के परमाणु एकत्रित कर लेती है। इससे उसका एक विशेष आकार बन जाता है। जब एक स्थान समाप्त हो जाता है तो वही गति एक और स्थान जा नया शरीर धारण करती है। आज कल की रचनाओं में तार रहित वैद्युत संदेश यंत्र का उदाहरण इस सिद्धान्त को और भी स्पष्ट करता है। सहस्रों मीलों की दूरी पर दो स्थानों पर यंत्र रखे हैं। शब्द एक विशेष स्थान पर उत्पन्न होता है और आकाश द्वारा तत्काल दूसरे यंत्र में जा प्रकट होती है। इसी प्रकार जब विशेष प्रकार के गुण एक स्थान को छोड़ते हैं तो उसी समय अपने योग्य दूसरे (यंत्र) शरीर में प्रविष्ट होते हैं। मौलाना रोम ने कहा है "तृणवत् मैंने कई बार जन्म लिया है"। शमस-उलतब्रेज़ कहता है, "मेरे शरीर को बने कई सहस्र वर्ष हुये।" इस कार्यात्मक शरीरको मत देख। मैं पुराना प्रेमी हूं। १। मैं नूह की नौका में था, यूसफ के साथ कुआं के अन्दर बंद था। ईसा के श्वास प्रश्वास में मैं ही था। मैं पु०—।२। आदम न था मैं था। संसार न था मैं था। यह श्वास नहीं था मैं था। मैं पु०—।३। मैं तत्त्व विद्या

का स्वामी हुआ हूं। मैं कर्मकाण्ड का उपदेष्टा हुआ हूँ। मैं धर्म का पथपदर्शक हुआ हूं। मैं पु०-१४।"

६४-गीता के चतुर्दश अध्याय के पांच श्लोक में कहा है कि प्रकृति के गुण सत्त्व, रज, तम जीव को देह के साथ बांध देते हैं। अध्याय पन्द्रह के ७, ८, ९, १० श्लोकों में बताया है कि जीव लोक में मेरा ही अंश जीव के पृथक् रूप में अपने और इन्द्रियां एकत्रित करके प्रकृति के अन्दर गति करता है। जब यह शरीर छोड़ता है तो उन को संग लेकर इस प्रकार चला जाता है जैसे कि वायु फूल में से सुगन्धि को ले जाती है। अज्ञानी पुरुष इसके आने जाने अथवा प्रकृति के गुणों में फंसने को नहीं देख सकते। केवल ज्ञानियों के यह दृष्टिगोचर होता है। द्वितीय अध्याय के १३ वें श्लोक में दर्शाया है कि जैसे जीव को इस शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्थायें आती हैं इसी प्रकार मृत्यु के उपरान्त नया शरीर मिल जाता है, पुनः २२ श्लोक में कहा है कि जैसे फट जाने पर मनुष्य वस्त्र उतार देता है ऐसे ही जीव एक शरीर त्याग कर दसरा धारण कर लेता है। छः अध्याय के ४१,४२,४३ और अध्याय सात के १९ वें और अध्याय आठ के २५ वें इत्यादि में भी आवागमन का वर्णन करते हैं। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुरुष प्रकृति में क्यों फंसता है। बात यह है कि प्रकृति और पुरुष परस्पर सापेक्ष हैं। एकदूसरे से पृथक् नहीं रह सकते। गीता में इन दोनों को ब्रह्म के स्वभाव के परापर दो पक्ष कहे हैं। प्रलय के समय प्रकृति तम अवस्था में होती है। ब्रह्माण्ड उत्पत्ति के समय उस

की अवस्था रज की हो जाती है। इस अवस्था में पुरुष ज्ञान को प्राप्त होकर अपने सत्य स्वरूप को प्राप्त करता है।

६५—गीता के आठ अध्याय के पांच, छः तथा सात श्लोकों में कहा है कि अन्त समय जो जिस का विचार होता है वह वैसाही शरीर ग्रहण करता है। हे अर्जुन! इस लिये प्रत्येक समय तू मेरा ध्यान रख ताकि अन्त समय तुझे मेरा ध्यान रहे और तू मेरे पास आये। प्रत्येक मनुष्य प्रति क्षण अपने सारे पिछले जीवन का परिणाम होता है। जब जब उसके ऊपर और संस्कार पड़ते जाते हैं तब २ वह परिवर्तित होता रहता है। इन संस्कारों के संयोग का नाम ही आचार है। इस आचार से वह श्रद्धा उत्पन्न होती है जो कि मनुष्य से कर्म कराके और संस्कार अपने ओर एकत्रित करती है। गीता के अध्याय १७ के ३ श्लोक में कहा है कि मनुष्य वही है जो उसकी श्रद्धा है, कार्यकारण का यह क्रम मनुष्य के अन्दर भी वैसा ही चलता है जैसा कि ब्रह्माण्ड में। हमारे भोजन का भी हमारे संस्कारों और कर्म्मों पर बड़ा प्रभाव होता है। १७ अध्याय के ८, ९, १० श्लोक भिन्न २ प्रकार के भोजनों के प्रभाव का वर्णन करते हैं। उपनिषद् में भी कहा है कि आहार शुद्ध होने से मन पवित्र होता है। भीष्म पितामह के जीवन से इसका बड़ा प्रमाण मिलता है। बाणों की शय्या पर लेटा हुआ वह उपदेश कर रहा था कि जिस सभा में अन्याय हो धर्मात्मा को उस सभा से उठ जाना चाहिये। उस पर प्रश्न किया गया कि द्रौपदी का अपमान होने के समय तुम क्यों सभा में बैठे रहे? उसके उत्तर में उसने स्पष्ट

अङ्गीकार किया कि उस समय पाप के अन्न ने मेरे आत्मा को मलीन कर रखा था।

६६-प्रायः मनुष्य गीता के विचारों पर उपहास करता है, यह कह कर कि मनुष्य जीवन पर्यन्त पाप करता रहे और अन्त समय में परमात्मा का ध्यान करे। यह तो मुक्ति की सुगम रीति है। यह मूर्खता है। ऐसा सम्भव नहीं हो सकता कि जिस पुरुष का मन विशेष विचारों में फंसा हो अंत समय में अकस्मात् परमात्मा की ओर चला जाए। इस के विरुद्ध उस समय बारंबार वही बातें हृदय में शोक के साथ आती हैं जिन में मन सदैव लगा रहा हो। जिन को किसी को मरते हुए देखने का अवसर प्राप्त हुआ है उन्होंने यह अनुभव किया होगा कि किस प्रकार प्राण त्यागते हुए मनुष्य उन्हीं बातों का ध्यान करता और मुख से वैसे ही शब्द निकालता है। मनुष्य के अन्दर उस के जीवन में जो अकस्मात् परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं वह केवल ऊपर से ऐसी होती हैं वास्तव में नहीं होतीं। यद्यपि वाल्मीक एक डाकू था तथापि उस समय में भी वह अपने माता पिता आदि सम्बन्धियों को सुख देने के लिये डाके डाला करता था। उस का विचार उस समय भी दूसरों की भलाई करना था जो कि ऋषि हो जाने पर उस के अन्दर और रूप में प्रकट हुई। ऊपर के कामों से मनुष्य का वास्तव रूप प्रकट नहीं होता वह उस की श्रद्धा में पाया जाता है।

औरंगज़ेब प्रारम्भिक अवस्था में मदिरा पान करता था। विषयी भी था। राजगद्दी मिलतेही संयमी हो गया।

वस्तुतः युवावस्था में ही उस की एक कामना थी कि किसी प्रकार सिंहासन मिल जाए। अपने पिताकी सभाओं में सर्वप्रिय बनने के लिये वह उन का अनुकरण करता था। अंत में उन धार्मिक जनों को प्रसन्न करना और पुष्ट करना उस का आशय था जिन्होंने उसे गद्दी प्राप्त करने में सहायता दी थी। इसी प्रकार बन्दा एक बैरागी साधु से एक बड़ा सेनापति बन गया। पंजाब का भविष्य इतिहास सर्वथा और होता यदि बागवानपुरे के युद्ध में पांच सहस्र ततखालसा उस का संग छोड़ कर मुसलमानों से न जा मिले होते। यदि उस की अभ्यंतर दशा को देखा जाए तो उस का हृदय वही था जैसा कि बन्दा हरिणी के आखेट करने और उस के पेट चीरने के समय था। मृगी के अंदर से बच्चा निकलने पर उसे इतना दुःख हुआ कि उसे संसार से वैराग्य हो गया। फिर उसी वैरागी का ध्यान जब गुरु गोबिन्दसिंह ने देश की दुःखित अवस्था की ओर दिलाया तो वह सेना पति बन गया।

मानसिक-विकास ।

६७–ज्यूं २ ब्रह्माण्ड में भिन्न २ प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं उन के अंदर मस्तिष्क की शनैः २ उन्नति होती जाती है। उस से ज्ञान का आरम्भ होता है और मनुष्य जाति के अंदर मानसिक विकाश का क्रम आरम्भ होता है। यह विकाश क्योंकर आरम्भ होताहै और किन कारणों से उन्नति करता है इस विषय पर कई सिद्धान्त हैं। उन में से एक तो बकल का आर्थिकवाद है जो कि उस ने अपनी सभ्यता के इतिहास नाम प्रसिद्ध पुस्तक "History of civilizaiton" में वर्णन किया है। उस के अनुसार ज्ञान के आरम्भ के तीन बड़े आर्थिक कारण हैं। भोजन की बहुतायत, जल वायु प्राकृतिक दृश्य जिन देशों में सभ्यता आरम्भ हुई उन की भूमि किसी बड़ी नदी से सींचे जाने के कारण भोजन बहुतायत उत्पन्न करती थी। वहां का जल वायु गरम होने से आवश्यतायें बहुत न्यून थीं। न बड़े मकानों की आवश्यकता थी न बहुत वस्त्रों की। गंगा, नील दजला फुरात नदियां इस के बड़े उदाहरण हैं जहां कि गेहूं, चावल और खजूर बहुत उत्पन्न होने से मनुष्य को उदरपूर्ति सुगमता से हो सकती है। बहुधा पुरुषों को सोच विचार का पर्याप्त समय मिलता था। प्राकृतिक दृश्यों की विद्यमानता वह इस लिये आवश्यक समझता है ताकि मनुष्य का सोचने की ओर ध्यान दिलाये। परंतु वे इतने अधिक न हों कि उस के मन पर

प्रभाव डाल कार उसे सोचने से रोक दें। इन स्थलों पर अवस्थायें ऐसी अनुकूल थीं कि वहां एक ऐसा जन समूह उत्पन्न हो गया जिनके पास काम करने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई और उन्हें अवकाश होने से मनुष्य की वर्तमान उन्नति की संस्थापना का अवसर मिला। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि भिन्न देशों की भूमि, जल वायु मनुष्य के शरीर, रंग, दिमाग और भाषा पर अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करती है। इङ्गलैण्ड, जापान, अफ्रीका इत्यादि के निवासियों के रूपों इत्यादि में जितना भेद है वह सब प्रकृति के प्रभाव से है। इसी प्रकार यूनान देश में नगरों के प्रजातंत्रराज्य की नींव इस लिये पड़ी कि यूनान में बहुत छोटे २ अतिक्रमणीय पर्वत हैं।

६८–हरबर्ट स्पैंसर विकास के नियम के अनुसार अज्ञान का सारम्भ पशु जीवन में से ही खोजता है। पशुओं में दो बड़ी कामनायें पाई जाती हैं। प्रथम उदरपूर्त्ति की इच्छा और द्वितीय समय पर भोग की। दूसरी कामना के साथ २ संतान के लिये प्रेम और जाति स्थापित रखने अथवा वृद्धि का भाव उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में स्वयं जीवित रहना और जाति के स्थापित पशु जीवन के दो बड़े मूल सिद्धान्त हैं। जंतु दो प्रकार के हैं। एक वे जो सम्मिलित होकर अपना भोजन सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं। यथा कबूतर, मृग, मेष इत्यादि। दूसरे वे शिकारी जंतु हैं जिनको पृथक २ भोजन ढूंढने में सुगमता होती है। इनके उदाहरण बाज, सिंह कुत्ता हैं। कुत्ता यहां तक समझदार होता है कि अपनी चूसी हुई हड्डी को दूसरे

दिन के लिये रख देता है। और उसे मिट्टी से ढांप देता है ताकि दूसरा कोई उसे खा न ले। परंतु साथ ही अपनी जाति का इतना शत्रु है कि इसका नाम अपशब्द होगया है। इसके सम्बंध में कई गाथायें प्रसिद्ध की गई हैं। एक कुत्ता ग्राम में दुःखित होगया। उसने किसी दूसरे ग्राम में आने का निश्चय किया। जहां कहीं जाता वहां के कुत्ते ग्राम से मील भर बाहर उसे देखकर उसके पीछे पड़ जाते और वह दौड़ जाता। इस प्रकार दौड़ता २ पुनः अपने ग्राम में आ पहुंचा। जब कुत्तों ने उससे पूछा फिर क्यों आगये उसने उत्तर दिया आप भाइयों की कृपा से। जहां कहीं जाता था आगे से ही निकालने पर उद्यत होते थे। पहली प्रकार के प्राणियों को शिकारी प्राणियों से बचने के लिये भी सम्मिलित रहना अधिक लाभकारी है। इनमें से बहुत से ऐसे हैं जिनको बच्चों का परस्पर प्रेम सदैव जोड़ी में रहना सिखा देती है। सारस पक्षी का उदाहरण बड़ा अद्भुत है। उनके अंदर दम्पति जोड़ने के समय बहुत सारस एकत्रित होकर विवाह के तुल्य आनंद मनाते हैं। सम्मिलित रहने से पशुओं में भी अन्योन्य सहानुभूति और परस्पर रक्षा का विचार उत्पन्न होता है। दो घोड़े सम्मिलित रहने से परस्पर जीवन तक त्यागने को तत्पर रहते हैं। हाथिओं का उदाहरण इसे और भी स्पष्ट करता है। जब इनका समूह बनमें चरने जाता है तो इनका नेता सब से आगे होता है। बच्चे मध्य में होते हैं। शत्रु के साथ कातर्य दिखाने पर नेता को हटा दिया जाता है। भोजन संचय करने के लिये सम्मिलित रहना च्यूएटी और शहत

की मक्खी के उदाहरण से भली प्रकार प्रकट होता है। इन दोनों के अंदर भिन्न प्रकार के कार्य्य करने के लिये वर्णों के सदृश विभाग पाया जाता है। कईयों का काम भोजन एकत्रित करना है, कईयों का संतान उत्पन्न करना, और कई युद्ध करने का काम करती, और शेष सेवा का काम करती हैं।

६६–जङ्गली पुरुष भी इन्हीं दशाओं के अनुसार चलते हैं। सम्मिलित रहने पर इन के अंदर सहानुभव उत्पन्न होता है। जू २ भोजन की अन्वेषणा में शस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है तो यह शस्त्र शनैः २ संपत्ति का काम देते हैं। इस प्रकार संतान के प्रेम के साथ धन के प्रेम का बीज बोया जाता है। भोजन प्राप्त करने के लिये असभ्य कुलों का परस्पर संग्राम होता है। इन युद्धों में जो पुरुष भली भान्ति लड़कर अपने कुल की रक्षा करते हैं वे महापुरुष और मृत्यु के पश्चात् देवता बन जाते हैं। इन लोगों के शुभ कामों को भविष्य जाति के लिये प्रवृत रखना कुल के लिये आवश्यक होता है ताकि बीर पुरुषों के लिये प्रशंसा और कायर पुरुषों से घृणा उत्पन्न हो। ऐसे महा-पुरुषों के मृतकशरीरों को रखने के लिये समाधियां बनाई जाती हैं। इन समाधियों को पूजना और इन के साथ मन्दिरों को बनाना मतों की नींव है। इन के गुण को गाने वाले और लोगों को सुनाने वाले धार्मिक नेता अथवा पुजारी बन जाते हैं इस के अर्थ यह हैं कि हरबर्ट स्पैन्सर धार्मिक और सामाजिक उन्नति की नींव मढ़ी पूजा पर मानता है। जिन जातियों की पुरातन रीतियोंका अध्ययन

करके यह परिणाम जाने गये हैं उन में मढ़िओं की पूजा का प्रचार पाया जाता है। मिसरी, चिल्डिया के लोग और यहूदी आत्मा का प्रत्यात्मा माना करते थे जोकि स्वप्न इत्यादि में दिखाई देता था। इस के लिये वे समाधि बनाना आवश्यक समझते थे। यह परिणाम आर्य जाति के लिये ठीक कहना कठिन है। उन में इस पूजा का चिन्ह मात्र भी न था। वे मृतक को जलाना ही धर्म समझते थे क्योंकि आत्मा उस के अन्दर से निकल कर कहीं और चला गया है। जो रीति पुराने यूनान इत्यादि देशों में प्राकृतिक शक्तियों को चेतन समझ कर पूजा की पाई जाती थी उस का भी मढ़िओं की पूजा से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

७०–इस प्रकार की युक्तियों के आधार पर उपरोक्त परिणाम निकालना फ़िलौस्फी की आनुमानिक (Deductive) विधि कही जाती है। यह विधि योरुप में सोलहवीं शदाब्दी में बेकन ने चलाई। इस का सिद्धान्त यह है कि विज्ञान की सहायता से जो अनुभव व्यवहार में आए हैं उन को एकत्रित करके उन से विशेष नियमों को निकाला जाता है। इस से पूर्व काल में पुरातन संसार की फिलौस्फी की विधि ऊहात्मक (Inductive) रही है जिस के अनुसार साधारण अनुभवों में से विचार शक्ति द्वारा विशेष नियम स्थापित करके उन से साधारण परिणाम निकाले जाते हैं। वर्तमान फिलौस्फर आनुमानिक विधि(Deductivemethod)को कितना ही अच्छा कहें परन्तु इस से किसी को इन्कार नहीं हो सकता कि

पुरातन विधि के बिना किसी बड़ी फिलौस्फी की नींव नहीं पड़ सकती।

लोगों ने देखा कि यदि बच्चे को कुछ सिखाया न जाए तो वह सर्वथा असभ्य बन जाता है। यहां तक कि भाषा के न सिखाने से वह कुछ बोल नहीं सकता। इसी प्रकार जो समूह असभ्य दशा में चले आते हैं वे चिरकाल से उसी दशा में हैं। उन्हों ने कोई उन्नति नहीं की।

बकल भी यह मानता है कि संसार में असाधारण बुद्धि रखने वाले मनुष्य उतपन्न होते हैं जो कि मनुष्यों के लिये दीपक का काम देते हैं। उन्हें वह प्रकृतिसे ऊपर अथवा आतिभौतिक मानता है और उनके होने का कारण कोई नहीं बता सकता। मेज़नी यह कहता है कि संसार में मार्ग-प्रदर्शन के लिये परमात्मा आवश्यकतानुसार अपने आप को मनुष्यों में प्रकट करता है। इस विचार को गीता के चौथे अध्याय में प्रकट किया है कि धर्म की रक्षा के लिये जब २ आवश्यकता पड़ती है तब २ मैं जन्म लेता हूं। यवन धर्म अर्थात् इस्लाम, इसाई और यहूदी धर्म इसे धार्मिक सिद्धान्त बनाकर इस पर अपनी नींव रखते हैं। असाधारण पुरुषों को उन्हों ने परमात्मा के पैग़म्बरों का पद दिया है। जिन की ओर परमात्मा अपने दिव्य दूत भेजता था और कई बार वार्तालाप भी किया करता था। यह सब ईश्वर की आज्ञायें और उपदेश उन की पवित्र पुस्तक में पाए जाते हैं।

७१–आर्यशास्त्र ब्रह्माण्ड के सकल ज्ञान को वेद कहते हैं। वेद को गीता में ब्रह्म कहा है। यह ज्ञान अटल और

अनादि है। इस ज्ञान को मंत्रों के रूप में देखने और प्रकट करने वाले ऋषि कहलाते हैं। इस विषय पर थोड़ा मत भेद पाया जाता है। कि क्या यह समस्त ज्ञान मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में ही कुछ ऋषियों द्वारा प्रकट हुआ अथवा भिन्न २ समयों पर। एक मत तो यह है कि सब वेद आरम्भ में ही विशेष मंत्रों के रूप में प्रकट हो गए और इन मंत्रों के अर्थ समझने वाले ऋषि पश्चात् भी होते रहे जिन के नाम पर वह मन्त्र पाए जाते हैं। दूसरा मत यह भी है कि वेद मंत्र भी समय के भेद से ऋषियों को प्रकट होते रहे हैं। इस सिद्धान्त पर सहमति है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं और इन की निन्दा करने वाला नास्तिक है। यदि पुराने आर्यसाहित्य पर विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि आर्य जाति के ज्ञान का आरम्भ और उन्नति उन के विचारों की श्रेष्ठता और प्रकृति से सहचर्य सम्बन्ध द्वारा है। इस के चार पृथक् काल हैं। वैदिक काल में ऋषि प्रकृति के दृश्य को देख इस प्रकार के प्रेम और आकर्ष का वर्णन करते हैं जैसा कि उत्पन्न होने के पश्चात् बच्चा अपने नेत्र खोलता है। वह संसार की प्रत्येक वस्तु यहां तक कि सूर्य्य चन्द्र को भी अपने हाथ में लेने की इच्छा तथा चेष्टा करता है। दूसरा काल उपनिषदों का है जब कि बुद्धि शांत हो कर ध्यान में लगी प्रतीत होती है उस समय ब्रह्माण्ड की तह पर जो रहस्य काम करते हैं उन की खोज का वर्णन पाया जाता है। नचिकेता का प्रश्न क्या सुन्दर है। मृत्यु के अनंतर आत्मा किधर जाता है। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से

पूछती है आत्मा क्या है ? ऋषि का उत्तर कितना महान् है। तीसरे काल में तर्क प्रधान है। फिलौस्फी के कई स्कूल उत्पन्न होते हैं। समस्त संसार में दुःख देखते हैं, और इस दुःख को निवारण करने के लिये अपनी २ प्रतिक्रियायें ढूंढते हैं। बुद्धमत इस फिलौस्फी को धर्म की पदवी में ले जाता है। कामना त्याग दो, बस यही निर्वाण है। गीता इस फिलौस्फी को शिखर पर ले जाती है जब यह बताती है कि ज्ञानी की दृष्टि में सुख और दुःख दोनों समान हैं। द्वितीय आध्याय के ५६ वां श्लोक और चतुर्दश अध्याय के २४, २५ वें श्लोक बातते हैं "दुख संसार में है उस से भयभीत मत होवो । अपना ऋण पूरा करते जाओ। दुःख सुख प्रतीत होगा।" चौथा पौराणिक काल है जिस में पुराण शास्त्र की रचना पाई जाती है जोकि भाषा का एक रोग है, जिस से लोग पुरानी भाषा को न समझ कर अपनी अवस्थाओं के अनुसार शब्दों का अर्थ करते हैं और उलटा अभिप्राय निकालते हैं। यह विद्या के नाश और लोगों के अधःपतन का परिणाम होता है।

७२–ज्ञान के आरम्भ के साथ भाषा के आरम्भ का प्रश्न भी मिला हुआ है । इस विषय पर भी विचार आवश्यक है। स्वामी दयानन्द तो वेद ज्ञान के साथ शब्द को भी अनादि मानते हैं। शब्द ज्ञान के वस्त्र हैं। जब ऋषियों के हृदय में ज्ञान का प्रकाश हुआ वह इन ही शब्दों द्वारा हुआ। तिलक महाराज वेद ज्ञान को अनादि मानते हैं परन्तु वह यह कहते हैं कि प्रत्येक (Glacial

period)(हिम प्रधान काल) के अन्तमें इस पृथिवी पर तूफान आता है जोकि बीस पच्चीस सहस्र वर्ष के पश्चात् एक प्रलय सी होती है। तब यह ज्ञान विचार मात्र स्मरण रह जाता है जोकि पुनः सृष्टि फैलने पर ऋषि अपने शब्दों में वर्णन करते हैं। मनुस्मृति में इस तूफान को मनु का तूफान कहा है। कदाचित् इसी को ही बाईबल नूह का तूफान बताती है। शब्द मनु और नूह में बड़ी तुलना पाई जाती है।

अरविन्दुघोश ने भाषा के आरम्भ को विकाश के सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध किया है। उन के परिणाम इस प्रकार के हैं। आदि सृष्टि में मनुष्य पशुओं की नाईं थोड़े से शब्द निकालते थे उन शब्दों को उन्होंने बीजशब्द कहा है। वे शब्द विशेष गति के सम्बन्ध से विशेष अभिप्राय को सिद्ध करते थे। काल पाकर जब इन शब्दों के कई भिन्न भिन्न अर्थ समझे जाने लगे तो यह धातु बन गए। ज्यूं २ इन धातुओं के प्रयोग और अर्थ बढ़ते गए उन से कई २ शब्द बनने आरम्भ हुए। सब से पूर्व यह शब्द समष्टि वाची थे जिस से एक शब्द समयानुसार कई अर्थ देता था। इन शब्दों को द्रवरूप अर्थात् सुगमता से बदलने वाले कहा गया है। वेदों के अनेक शब्द इस प्रकार के हैं। बहुत काल व्यतीत होने पर इन शब्दों की संख्या बहुत बढ़ी, तो एक २ शब्द विशेष अर्थ देने लगा। तब इस के अर्थ परिमित हो गए। यही कारण है कि पुरातन संस्कृत में श्लेष अर्थात् शब्द का प्रयोग कई अर्थों में, बहुत पाया जाता है। यह अन्वेषणा भाषा विज्ञान को

सर्वथा एक नये प्रकाश में ले आती है। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि न केवल आर्य जाति की शाखाओं की भाषायें परन्तु अन्य भाषायें भी वैदिक भाषा से विशेष सम्बन्ध रखती हैं। इन सब का स्रोत केवल वैदिक भाषा है।

७३-अक्षर रचना में अन्य जातियों का हाथ दिखाई देता है। सब से पुरानी लिखने की विद्या चीनियों की प्रतीत होती है। चीन में प्रत्येक पूर्ण वाक्य के लिये विशेष चिन्ह हैं। जो पुरुष भाषा में परिपूर्ण होना चाहे उसे कोई ६५ सहस्र चिन्ह कण्ठस्थ करने पड़ते हैं। साधारण लिखे पढ़े मनुष्य के लिये दो तीन सहस्र चिन्हों का जानना आवश्यक है। चीन के लोगों ने सातवीं शताब्दी से पूर्व ही मुद्रालय और समाचार पत्र चलाए थे। योरुपीय पादरियों ने मुद्रण-कला यहां से लेजाकर योरुप में प्रचलित की। मिश्र के लोग जीवों के या अन्य चित्र डाल कर लिखा करते थे। एक चित्र समयानुसार कई शब्दों का ज्ञापक होता था। इस भाषा को (Hieroglyphic) कहा जाता है। गत शताब्दी के मध्य में एक शिलालेख मिला जिस पर कि लातीनी शब्द और चित्र विद्यमान थे। इस से इस के पढ़ने में सफलता प्राप्त हुई। इसी की सहायता से मसीह से छः सात सहस्र वर्ष पूर्व मिश्र के इतिहास का पता हो गया। चिल्डिया के लोगों की रीति रेखा द्वारा लिखने की थी। इसे (Cuneiform) कहा जाता है। यह लोग ईंटों पर पुस्तकें लिख कर अग्नि में पका लेते थे। ऐसी पुस्तकों का एक पुस्तकालय

निनेवा के प्रासादों के खण्डरात में पाया गया। टायर में रहने वाले फीनीश्यन लोग थे जिन्होंने विशेष शब्दों के लिये विशेष चिन्ह निश्चित किये जोकि अक्षरों के रूप में थे। यह अक्षर एक व्यक्ति कैडमस नाम थीबस निवासी पन्द्रह सौ वर्ष मसीह से पूर्व यूनान में ले गया, जहां से रोमा में और वहां से समस्त योरूप में उन का प्रचार हुआ।

फीनीश्या और चिल्डिया के अक्षर मिला कर बैबेलोनिया के अक्षर बनाए गए। बैबेलोनिया के अक्षरों से अर्बी के अक्षर उत्पन्न हुए। पुराने पारसी लोगों ने भी यद्यपि उन की भाषा आर्यभाषा की शाखा है अक्षरों का अनुकरण यहां से किया। देव नागरी अक्षर वैज्ञानिक विधि पर बनाए गए हैं। केवल यही अक्षर हैं जो कि शब्द-संवादि कहे जा सकते हैं। जितने शब्द मुख से निकलते हैं उतने ही लिखे जाते हैं, और जो लिखे जातेहैं, वही बोले जाते हैं। इनकेप्रचलित होने का समय ठीक नहीं बताया जासकता और नहीं आर्यावर्त में कोई ऐसे नमूना के अक्षर विद्यमान हैं जोकि उनके पूर्व की अपूर्ण अवस्था कही जा सके। सम्भव है कि पुरातन काल में संसार की जातियोंके वाह्य संबंधों केकारण यह विद्या पाणिनि अथवा किसीअन्य ऋषिने रची हो। एक अद्भुत बात समानत: की यह है कि जहां पर योरुप की भाषाओं में शब्द एक ही है जो दो मिलेहुए शब्दों के लिये खड़ा है वहां देवनागरी में संयुक्त शब्द का स्थानी पाया जाता है।

७४-आर्य-जाति की शाखाओं का स्रोत एक भाषा

मानने में किसी विद्वान् को अस्वीकृत नहीं। इनकी समानतायें परस्पर बहुत दृढ़ हैं। गृहसम्बन्धी प्रयोग के सारे शब्द, दिनों के नाम, दस तक गिनती के शब्द सर्वथा सामान्य प्रतीत होते हैं। ईश्वर के लिये नाम, यूनानी, लातीनी, जर्मन अंग्रेजी इत्यादि और यहूदी भाषा में भी एक ही स्रोत अर्थात् दिवु धातु से निकला हुआ है जिसके अर्थ प्रकाश के हैं। भाषाओं की एकता का सब से बड़ा प्रमाण उनके व्याकरण में पाया जाता है। व्याकरण भाषा के अस्थिपंजर के समान है। सब बालकों को व्याकरण कण्ठस्थ करने पर बड़ा बल दिया जाता है परंतु उसका वास्तविक लाभ कदाचित् लोगों को ज्ञात नहीं। वह यह है कि भाषाओं के व्याकरण की तुलना करने से स्पष्टप्रतीत होता है कि वह लगभग प्रत्येक बात में एक दूसरे के समान हैं। यदि भाषाओं में भेद होता तो उनकी रचना सामान्य क्यों होती? जिन भाषाओं का वास्तविक स्रोत से संबंध दिखाई नहीं पड़ता यथा ब्रह्मा की अथवा चीन की, उनमें व्याकरण पाया ही नहीं जाता। लोग विस्मित होते हैं कि यदि भाषाओं का केन्द्र स्थान एक है तो इतने भेद कहां से आए? इसका उत्तर स्पष्ट है। थोड़ी २ दूरी पर जल वायु के प्रभाव से भाषा में परिवर्तन होना एक प्राकृतिक नियम है। अपने आप को उस काल में समझिये जब कि न कोई समाचार पत्र था न कोई यंत्रालय। जब कि पुस्तक का प्राप्त होना भी एक कठिन बात थी। परंतु उस काल में जब कि लिखने की विद्या का आविष्कार नहीं हुआ था। फिर इन भेदों का होना कदापि आश्चर्य-

जनक न होगा। इससे यह भी स्पष्ट होगा कि प्राचीन काल में ब्राह्मणों की क्यों इतनी प्रतिष्ठा होती थी। ब्राह्मण वे पुरुष थे जिनको उस काल का पुस्तकालय न केवल मस्तिष्क में उठाना पड़ता था परन्तु उन्हें वह विद्या का भण्डार दूसरों के समर्पित करने के लिये योग्य शिष्यों का अन्वेषण करना पड़ता था। आश्चर्य का स्थान है कि उन्होंने किस प्रकार से वेदों, उपनिवेदों, उपनिषदों वेदांगो, शास्त्रों इत्यादि को केवल मस्तिष्क और भाषा द्वारा गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा स्थित रखा।

७५–भाषा एक भारी लोह संदूक के सदृश है जिसमें सब साहित्य का भण्डार एकत्रित करके रखा रहता है। आर्यावर्त के आर्य पुरुषों ने अपनी भाषा और धर्म की रीतियों को प्राचीन संसार मिश्र आदि में फैलाया। बौद्ध धर्म की उन्नति के समय उनकी फिलौस्फी ब्रह्मा, चीन इत्यादि देशों में फैली। मुसलमानी उन्नति के समय अरबों ने भारतवर्ष की विद्याओं से पर्याप्त लाभ उठाया।

हारुन-उल-रशीद और उसके पुत्र जब कि वे खलीफा थे उनके राज्य में बगदाद के व्यापारी भारतवर्ष में व्यापार के लिये आते और इन पुस्तकों की प्रतिलिपियां उपहार के लिये अपने देश में ले जाते थे। सैकड़ों पुस्तकें, फिलौस्फी, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद इत्यादि विषयों पर वहां पहुंचीं। आयुर्वेद का अरबी में अनुवाद किया गया। अरब लोगों ने इन सब विद्याओं को स्पेन में विश्वविद्यालय स्थापित करके उस समय फैलाया। जब कि समस्त योरुप अभी

अंधकार में था। यह अद्भुत बात है कि यूनानी फिलौस्फी भी योरुप में अरबी भाषा द्वारा फैली।

भाषा न केवल सभ्यता के भण्डार का सन्दूक है परंतु जातीयता की वह बड़ी पुस्तक है जिस पर जाति का इतिहास लिखा मिलता है। यह केवल वैदिक संस्कृत की अन्वेषणा के पश्चात् ज्ञात हुआ कि योरुपीय जातियां भी आर्य जाति से हैं। जब भारतवर्ष में शाक्य आदि अन्य जातियों का आना आरम्भ हुआ तो उनकी भाषा मिलावट के कारण से प्राकृत भाषा में बदल गई। बौद्ध धर्म की उन्नति के समय प्राकृत को न केवल आर्यावर्त में परंतु ब्रह्मा इत्यादि में भी पवित्र भाषा की पदवी मिल गई। जब भारतवर्ष में लोगों के भिन्न २ विभाग होगये तो प्राकृत भी बंगाली, गुजराती, मराठी इत्यादि भाषाओं में विभक्त हो गई। इस्लाम के राज्य के समय इस पर फारसी की छाप लगी जैसी कि भारतवर्ष पर यवन राज्य की; जैसा कि आज कल हमारी भाषा ऐङ्गल भाषा से प्रभावित हो रही है। यह समझना आवश्यक है कि भाषा की स्थिति से जाति की स्थिति होती है और इस के नाश में जाति का नाश होता है वर्तमान विद्या-प्रणाली के अन्दर विद्वान् पुरुषों का मस्तिष्क इस प्रकार का बन गया है कि वे समझ नहीं सकते कि आर्यावर्त के नवयुवकों को अपनी भाषा त्याग कर विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा देना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। अनुमान से पता लगेगा कि हमारे बालकों का विद्यार्थी-अवस्था में आधे से अधिक समय केवल एक विदेशी भाषा के सीखने और समझने में व्यय

होता है। भाषा के रक्षा की एक ही विधि है कि सर्व विद्या तथा राज संबंधी कार्य इस भाषा में हों। जो पुरुष पूर्व से उत्तम पुस्तकें भाषा में उत्पन्न करना चाहते हैं वे घोड़े के आगे गाड़ी जोत कर उसे चलाने की चेष्टा करते हैं।

सामाजिक-विकाश।

७६-तीगा के अष्टादश अध्याय का ६१ वां श्लोक कहता है "भगवान स्वयं सबके हृदय में बैठा हुआ संसार चक्र को चला रहा है।"

इस ब्राह्माण्ड को यद्यपि हम केवल दैवयोग का परिणाम समझें अथवा किसी बड़ी शक्ति के उपाय का खुलना तथा बन्द होना, परन्तु यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वह समग्र शक्तियें जिन से कि जातियों का इतिहास बनता है, अन्य प्राकृतिक शक्तियों के सदृश विशेष नियमों के आधीन चलती हैं। इन नियमों के इतिहास का विधि अनुसार तथा परिपूर्ण अध्ययन का होना आवश्यक है। मानव जीवन तथा जाति जीवन में बड़ा भेद यह है कि एक साधारण अशुद्धि अथवा घटना मानव जीवन में परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। जाति जीवन की तरङ्ग किसी ऐसी अकस्मात् घटना से प्रभावित नहीं हो सकती। एक मनुष्य ट्रेम से गिर कर अथवा पैर फिसल जाने से ऐसी पीड़ा को प्राप्त हो सकता है जोकि उस के जीवन पर स्थायी प्रभाव उत्पन्न कर देती है। जाति जीवन ऐसे घटनाओं से स्वतंत्र होती है। इन ही नियमों के आधार पर मानव इतिहास को एक विज्ञान का पद मिल सकता है। जिस प्रकार इतिहास से निकाले हुए परिणाम राजनीति कहलाते हैं इसी प्रकार यह नियम इतिहास की फिलौस्फी

हैं। इन नियमों का अध्ययन करते २ हम धर्म के यथार्थ तत्त्व तक पहुंच सकते हैं।

७७-किसी पुरुष का जीवन लेकर उस के जीवन चरित्र पर ध्यान करने से विदित होगा कि इस के सब कामों की तैह में एक विशेष भाव होता है जोकि इसे चलाता है। साधारण सांसारिक पुरुष केवल 'सुख' से रहना चाहते हैं। सुख का जीवन व्यतीत करने के विचार से सब प्रकार का परिश्रम करते हैं और सब प्रकार का कष्ट उठाते हैं। एक अल्प बुद्धिवाला पुरुष इस जीवन में कुछ अर्थ नहीं देखता। हमारा अभिप्राय सुख होता है परन्तु यह सुख ही सब कष्टों को हमारे शिर पर लाता है। बहुत सोच विचार न रखने वाले मनुष्य केवल दो पाशव कामनाओं के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं अर्थात् जीवन की रक्षा और संतान उत्पत्ति। जब एक कर्म जीवी दिन में आठ घण्टे परिश्रम करके दो रुपये प्राप्त करता है तो वह अपने जीवन को दो रुपये के रूप में परिवर्तित करताहै। उस से अपनी और सन्तान की रक्षा करता है। यदि तनिक मात्र आगे चलकर ध्यान किया जाए तो ज्ञात होगा कि और विचार जो संसारिक पुरुष के जीवन को चलाते हैं कहीं पर किसी कठोर विषय का दासत्व, कहीं धन एकत्रित करने की इच्छा और कहीं कीर्ति का विचार।

एक अदानशील के जीवन में यही भाव काम करता है कि यथा तथा वह रुपया को समस्त स्थानों से खैंच कर उस स्थान में ला रखे जिसे वह अपना समझता है। वणि

जों के सम्बंध में यह प्रसिद्ध है कि उस के सारे जीवन की कमाई विवाह अथवा मकान ने खाई। तात्पर्य यह कि वह अपना और अन्यों का पेट काट कर जो कुछ सारी आयु में एकत्रित करता है उसे विवाह करने अथवा मकान बनाने में व्यय कर देता है। दूसरे शब्दों में विवाह अथवा मकान उस के सारे जीवन को खा जाता है। एक पुरुष को यदि मदिरा या व्यभिचार का स्वभाव है वह अपने जीवन का सुख प्रतिष्ठा सब कुछ त्याग कर समस्त जीवन को केवल एक ही व्यसन का शिकार बना देता है। कीर्ति की कामना एक प्रशंसा योग्य भाव है परन्तु उस की अपेक्षा जीवन परिवर्तित करने वालों की संख्या बहुत न्यून है।

७८–यही 'भाव' जोकि मानव जीवन में काम करता है जाति जीवन को भी चलाता है। लग भग समस्त जातियों के इतिहास में एक ही भाव की प्रकटता और उस की विस्तृति दिखाई देती है। यह भाव कितना ही उत्तम क्यों नहो जब अकेला किसी जाति में अनुचित बल पकड़ जाता है तो दूसरे विचारों के दब जाने से उस जाति की अधोगति का कारण हो जाता है। राजपूतों के अन्दर मान का भाव शासन करता हुआ दिखाई देता है। प्रतिष्ठा की अपेक्षा उन्हें मानव अथवा जाति जीवन की भी कोई सत्ता प्रतीत न होती थी। कितने ही उदाहरण हैं। जब कि राजपूतों ने पहिले अपनी स्त्रियों का बध किया और फिर तलवारें लिये जीवन की चिन्ता न करते हुए शत्रु पर जा पड़े। प्राचीन स्पार्टी के लोग शारीरिक सौन्दर्य्य

पर मोहित थे। जब कोई बच्चा दुर्बल तथा क्षीण प्रतीत होता था उसे पर्वत के शिखर से गिरा कर मार देते थे। जापान में देश के लिये प्रेम का एक भाव है। यही उन का धर्म और यही उनकी पुरुषत्वता है। बहुत सी लड़कियों ने वेश्या का काम धारण किया ताकि वे रुपया उपार्जन करें और उसे अपने देश की सेवा के लिये भेजें। उन की सोसायटी इस बात को बुरा नहीं मनती।

अफ्रीका में मानव तुल्यता का नियम अफ्रीकन सामाजिक जीवन की तह में पाया जाता है। यहां तक कि पुत्र पिता का और शिष्य गुरु का भी कुछ मान नहीं करते।

७६—इसी प्रकार के विचारों के आधार पर जातियों के अन्दर अपने अपनी संस्थाएं और रीतियां अथवा धार्मिक नियम स्थापित किये जाते हैं। स्त्री जाति की पदवी को लें। कई सम्प्रदायों के अन्दर स्त्री को नीचा समझ कर पर्दे में रखने का व्यवहार है। कई पश्चिमी जातियों के अन्दर न केवल स्त्रियों को परन्तु बालिकाओं को भी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। यहां तक कि कन्यायें बिना अपने माता पिता की आज्ञा के अपने विवाह का प्रबन्ध कर सकती हैं। इस आयु में न उन के अन्दर विचार करने की शक्ति होती है न लड़के के अन्दर। केवल कामना से प्रभावित हुए २ जिसे प्रेम का नाम दिया जाता है सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अभिलाषा के अनन्तर ही त्याग की बारी आ जाती है।

जापान में पर्दा तो कहीं दूर रहा स्त्री और पुरुषों का एक स्थान में सर्वथा नंगे स्नान करने की रीति है। आर्य हृदय

इस से कम्पायमान होता है। परंतु इस से इतना तो सिद्ध होता है कि वहां के लोग कामातुर इतने नहीं, और स्त्री को नंगा देख कर भी अपने मन को वश में रख सकते हैं। स्याम के छोटे से देश में स्त्रियों और पुरुषों के वस्त्र और शिर के बालों में भी कोई भेद नहीं। स्त्रियों को न केवल देश सम्बन्धी अधिकार वैसे ही परंतु पुरुषों से अधिक शक्ति प्राप्त है। कारण यह है कि थोड़ा काल हुआ है, स्त्रियों ने अपनी सेना बना कर ब्रह्मा के लोगों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा की। आर्य्यों के अन्दर स्त्री और पुरुष की सामान्य पदवी है। पुरुष को पति और स्त्री को पत्नी कहा जाता है। गीता में पुत्रों के नाम माता पिता के नाम पर दिये हैं। विवाह को धर्म विचार किया जाता है अतएव माता पिता के अधिकार में होती है। यहां तक कि स्त्री पुरुषके लिये समागमके समय भी वेद मंत्रों के द्वारा गर्भाधान संस्कार करने की आज्ञा है, ताकि जो संतान हो वह काम स्वभावी रखने वाले वीर्य्य से न हो परंतु धर्म के गुण वाले। विवाह को एक पवित्र धर्म समझने का विचार था जिस से देश में सती की रीति प्रचलित हुई। इस आदर्श की पवित्र स्त्रियां भारतवर्ष में ही जन्म लेती रही हैं; जिन्हों ने अपने प्रेम को पवित्र और बिना मलावट के रखने के लिये अपने शरीर की आहुति की है। इस के अतिरिक्त आप्तधर्म में आज्ञा पाई जाती है कि स्त्री अपने पति का नाम स्थित रखने के लिये अपनी पवित्रता को भी त्याग सकती है।

८०–मेज़नी समाज की नींव और उन्नति संगत के

सिद्धान्त पर स्थापित करता है । वेद मंत्र भी यही कहता है "हम सब परस्पर मिल कर बैठें । हम सब के विचार एक हों । हमारी आशायें एक हों ।" हरबर्ट स्पैन्सर समाज की नींव सहयोग पर स्थापित करता है । इसे वह दो प्रकार का बताता है । एक तो वह जिसमें मान व व्यक्तिगत लाभ हो, दूसरा जिसमें सामष्टिक लाभ का विचार अधिक प्रबल हो । पहिली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य के अपने और सामाजिक धर्म इस प्रकार पर निश्चित् होते हैं । इन धर्मों का सम्पूर्ण करना उसे लाभ देता है और साथ ही इन धर्मों की परिपूर्णता समाज को उन्नत करती है । दूसरी अवस्था में समाज अथवा समुदाय मिल कर विशेष कार्य हाथ में लेता है जिसके पूरा होने पर समाज को बल प्राप्त होता है और इसके सभासदों को भी व्यक्तिगत लाभ प्राप्त होता है । दूसरे नियम की नींव युद्ध पर है अर्थात् अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये दूसरे कुलों अथवा जातियों के साथ संग्राम तथा युद्ध करना ही सांग्रामिक समाज का सिद्धांत है । हरिवर्ष की जातियां अब तक इस नियमानुसार बढ़ती और उन्नति करती चली आई हैं । यह स्पष्ट है कि जिन जातियों में इस प्रकार का सहयोग होगा वह अधिक सांसर्गिक होंगी अर्थात् उनके अंदर परस्पर एक दूसरे के साथ अधिक सहानुभव होगा । निकटस्थ जातियों से घृणा और परस्पर प्रेम हरिवर्ष के स्वदेशानुराग का नियम है । परंतु जो जाति पूर्व प्रकार के सहयोग पर समाजको चलायेगी वह स्वभावतः कम सामाजिक होंगी अर्थात् उनकी परस्पर सहानुभूति न्यून होगी ।

स्पैन्सर इससे यह भी परिणाम निकालता है कि जो जातियां अधिक सामाजिक बल वाली होती हैं वह कम सामाजिक जातियों पर शासन करती हैं। हरिवर्षीय जातियों में जब से उन्होंने सभ्यता के मार्ग पर पद रखा है यही सहयोग काम करता रहा है। इसलिये वह एश्याई जातियों की अपेक्षा बहुत अधिक सामाजिक हैं।

८१-सम्भव है भारतवर्ष में आर्यजाति को आरम्भ में कुछ युद्ध आदि से काम लेना पड़ा हो किंतु उनकी समाज की नींव प्रथम प्रकार के सहयोग पर रही है जिसमें प्रत्येक सभासद अपना २ धर्म पालने में स्वतंत्र है। यद्यपि उन के धर्म निश्चित् करने में समाज की श्रेष्ठता सामने रखी गई है। यही कारण है कि हम आर्य्यजाति के अंदर आधुनिक काल की देश भक्ति का भाव न्यून पाते हैं। उनको इसके सीखने में बहुत ही काल व्यतीत होता हुआ प्रतीत होता है। आर्य्यों की सामाजिक नींव दूसरों के विरुद्ध संग्राम पर स्थापित न थी किंतु एक और बड़े सिद्धांत पर जिसे वेदों और गीता में यज्ञ का नाम दिया है, और जिसके अर्थ श्रेष्ठ के निमित्त हीन के त्याग के हैं। वेद कहता है "मेरी आयु यज्ञ के अर्पण हो। मेरी चक्षु यज्ञ के अर्पण हों। मेरी बुद्धि मेरा मन यज्ञ के अर्पण हो। इत्यादि।" एक और स्थल पर कहा है "यज्ञ हीविष्णु है।"

गीता के अध्याय ३ के १० श्लोक में यही विचार है। प्रजापति ने यज्ञ से इस संसार को उत्पन्न किया। यज्ञ वह काम है जिसका करना केवल धर्म के तौर पर आवश्यक हो और उसमें स्वार्थ का कोई लेश भी न हो। संसार में

मनुष्य जो काम करता है किसी लाभ को सन्मुख रखकर करता है। दूसरों की भलाई के काम भी इस लिये किये जाते हैं कि प्रायः मनुष्यों का स्वभाव शिक्षा अथवा उपदेश आदि द्वारा ऐसा बन जाता है कि उन्हें परोपकार का काम करने में प्रसन्नता प्राप्त होती है। यज्ञ वह है जिसमें आनंद की भी चिंता न हो।

उसी अध्याय के ११, १२, १३ और चौथे अध्याय के २५ और उससे आगे श्लोकों में यज्ञ को स्पष्टतया वर्णन किया है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ करना एक आवश्यक धर्म बताया है। उनके अंदर आचार्य, माता, पिता संग हैं।

८२–यज्ञ शब्द भी दूसरे संस्कृत शब्दों की नाईं पहिले संहृत अर्थों में प्रयोग होता था। चिरकाल के पश्चात् इस का प्रयोग परिमिति होकर विशेष अर्थों में किया गया। यज्ञ यज् धातु से निकला है। यज् के अर्थ देवपूजा, दान और संगति करण के हैं। इसी आधार पर आर्य्यसमाज में प्रत्येक मनुष्य के लिये पांच बड़े प्रति दिन के धर्म निश्चित् किये हैं जिन को पञ्च-महायज्ञ कहा जाता है। ब्रह्म यज्ञ आत्मिक उन्नति के लिये स्वध्याय, देवयज्ञ अर्थात् वायु आदि की शुद्धि के लिये अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, बड़ों की सेवा, अतिथि यज्ञ गृह आए पुरुष का सत्कार बलिवैश्नवदेव यज्ञ अर्थात् पशु आदि को कुछ न कुछ खिलाना। इन में दान और संगति को छोड़ कर देव पूजा बड़ा आवश्यक अंश है। इसलिये देव किसे कहते हैं, इस पर थोड़ा विचार आवश्यक है। देव

शब्द दिव् धातु से निकाला हुआ है जिस के कई अर्थ हैं। ज्योति, विजय, व्यवहार, स्तुति मद, शान्ति, विचार, आनन्द, क्रीड़ा इत्यादि हैं। इस प्रकार से यज्ञ के अर्थ मनुष्यों की संगति के अतिरिक्त प्रकाश के फैलाना पापियों पर विजय परस्पर अच्छा वर्ताव, प्रशंसा योग्य काम करना, स्वाभिमान की रक्षा, ज्ञान आदि विचार और शक्तियों का उपकार में लगाना इत्यादि हैं। आर्य्य भाषा में यज्ञ शब्द सब से मधुर और प्रेम का शब्द है। यज्ञ का बड़ा सुन्दर दृष्टान्त महाभारत में पाया जाता है। जब पाण्डवों ने युद्ध में विजय प्राप्त करके अश्वमेध यज्ञ रचा तो सब प्राणि जीव जन्तु को यज्ञ का बचा हुआ पवित्र भोजन खिलाया गया।

उस समय एक नकुल यज्ञ वेदि पर आया जहां कि सब ऋषि ब्राह्मण बैठे थे। उस का शरीर आधा सोने का बना था। वह इधर उधर लेटा और कहने लगा कि यज्ञ किसी काम का नहीं हुआ। सब ने बिस्मित होकर उस से पूछा कि तुम ऐसा क्यों कहते हो। उस ने यह उत्तर दिया कि एकदा अत्यन्त कठोर दुर्भिक्ष था कई दिवस पर्यन्त लोगों को खाना प्राप्त न हुआ। बन के अन्दर एक कुटिया में एक ब्राह्मण, उस की स्त्री, उस का पुत्र और उसकी स्त्री रहते थे। तीन चार दिन भूखे रहने के पश्चात् वह ब्राह्मण कुछ जौ ले आया। उस की उन्होंने चार रोटियां बनाईं। खाने पर बैठे थे कि द्वार पर एक भूखे की आवाज़ आई, "मैं कई दिन से भूखा मर रहा हूं।" ब्राह्मण उसे अन्दर ले आया और उसे अपने भाग की

रोटी दे दी। उस की तृप्ति न हुई। एक २ करके सब ने अपनी २ रोटी उसे दी। वह तो खा कर चलता हुआ। इस कुटिया में दूसरे दिन चार मृतक शरीर पड़े थे। मैं वहां गया। जौके आटे के कुछ अणु मेरे शरीर के एक ओर लग गए जिससे यह अर्ध भाग सोने का बन गया। मैं इस यज्ञ में यह देखने आया था कि क्या यहां पर मेरा शेष शरीर वैसा होता है वा नहीं। परन्तु इस यज्ञ का कोई प्रभाव प्रतीत होता नहीं दीखता॥

८३-फ्रांस के प्रसिद्ध आन्दोलन से कुछ चिर पूर्व रूसो ने एक छोटी सी पुस्तक "Social contract" लिखी जिस में यह बताया गया कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में अत्यन्त प्रसन्न दशा में था जब कि सब पुरुष स्वतंत्र और सामान्य थे। वर्तमान समाज की अवस्था में आकर मनुष्य बहुत गिरा है। यह सर्वथा नया विचार था और धनाढ्य इस पुस्तक पर उपहास करते थे। कार्यालय ने उस समय ही भविष्यद्वाद किया था कि यह लोग इस नये विचार उपहास करते हैं। इन के पौत्रों के शरीर के चर्म इस पुस्तक की जिल्दें बान्धने के काम आयेंगे। वह भविष्यद्वाद आन्दोलन के समय ठीक सिद्ध हुआ।

इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान लौक (Lock) और हौबस (Hobbes) दोनों समाज को राजा और प्रजा के परस्पर प्रतिज्ञा पर स्थिर मानते हैं। दोनों में भेद इतना है कि हौबस तो यह कहता है कि जब एक बार प्रजा ने सर्व अधिकार राजा के समर्पित कर दिये तो वह

उसे वापिस नहीं ले सकते। इस लिये नृप की शक्ति स्वतंत्र है। लौक इस के प्रतिकूल यह कहता है कि प्रजा ने निश्चय किया है। वह इस निश्चय को पुनः वापिस ले सकते हैं।

८४-महाभारत के शान्ति पर्व में जो कि राजनीति पर और विग्रह, संधि और गवर्नमैण्ट के ऊपर अत्युत्तम व्याख्यान है जो कि सब से पुराना होने परभी इस काल में ऐसा ही यथार्थ पाया जाता है। इस प्रश्न पर विवाद किया गया है। वहां बताया है कि आदि काल में मनुष्य पवित्र और सीधे साधे थे। न कोई चोरी करता था। न झूठ बोलता था और न कोई किसी को दुःख देता था। न कोई नियम था। न दण्ड की आवश्यकता थी। जब प्रजा बहुत बढ़ी तो लोगों के अन्दर, असत्य, चोरी इत्यादि पाप आरम्भ हुए जिस से लोग कष्ट में आकर प्रजापति के समीप गए। प्रजापति ने कहा तुम सब मिलकर अपने में से एक को राजा बनाओ जो सब की रक्षा करे। इसके स्थान में तुम सब अपनी उत्पत्ति का $\frac{१}{१०}$ और सम्पत्ति अर्थात् बैलों इत्यादि का $\frac{१}{४}$ भाग उसकी भेंट करो। वह तुम्हारी रक्षा करेगा। एव मनु पहला राजा बनाया गया जिसने सब नियम इत्यादि बनाये। आगे महाभारत में यह भी बताया है कि राजा को हटा देना भी प्रजा के हाथ में है। जब कोई राजा रक्षा करने के योग्य न हो तो उसे बांझ स्त्री अथवा दूध न देने वाली गौ समझ कर हटा देना

चाहिये और आवश्यकतानुसार किसी पुरुष को वह शुद्र ही क्यों न हो राजा बनाया जा सकता है। यथा नौका के डूबते समय जो कोई उसे बचा सके उसे पोताध्यक्ष बना देना चाहिये। महाभारत में राज्य का कार्य्य चलाने के लिये दो सभायें बनाने का वर्णन है जिन में चारों वर्णों के प्रतिनिधि चुने जाने चाहियें। एक तो अभ्यन्तर सभा अर्थात् मन्त्रियों की कमेटी जिसमें चार ब्राह्मण, तीन क्षत्री, दो वैश्य और एक शूद्र होना चाहिये। दूसरी बड़ी सभा में चार ब्राह्मण, दश क्षत्री, बीस वैश्य, और दश शूद्र होने चाहियें।

८५- ब्रह्माण्ड की गति अद्भुत है। इसमें किसी वस्तु को कितनी ही उत्तम वह क्यों न हो सदा के लिये स्थिरता नहीं। सबसे उत्तम सिद्धान्तों के अन्दर ही इनके नाश का बीज विद्यमान होता है। जातियें उन्नति करती हैं। उनके बल की वृद्धि होती है। बल की वृद्धि से प्रसन्नता आती है। प्रसन्नता में वह अंधी होजाती हैं और अपने व्यसनों को देख नहीं सकतीं। जिस धन आदि की उन्नति पर हमें इतनी प्रीति होती है उसके अन्दर ही विषयभोग और सुख का विचार विद्यमान है, जैसा कि विद्यार्थी के परिश्रम के अन्दर इसके भविष्य सुख का बीज होता है। धन एकत्रित होने से विषय भोग और सुख बढ़ता है। विषय का भाव बुद्धि पर परदा डाल देता है। इस हर्ष में आई हुई जातियें दूसरों के साथ न्याय अथवा अन्याय की चिन्ता नहीं करतीं। जिन लोगों ने प्राचीन काल में जाति अभिमान में आकर बड़े २ राज्य स्थापित किये वे एक

दिन ऐसे गिरे कि उनके दासों की इन पर विजय हुई। उन्हों ने सब को अपने अन्दर निगीर्ण करने की चेष्टा की। यदि वे भक्षण कर सके व न परन्तु इस सिद्धांत को सर्वथा भुला दिया कि दास का पति भी वैसाही शृंखला में बांधा जाता है जैसा कि दास। उसे सदैव भय रहता है। यह कहा जा सकता है कि पिछले लोगों के अधःपतन के कारण समझने से हम अपने आपको गिरने से बचा लेंगे। निस्सन्देह इतिहास की शिक्षा कुछ इसमें सहायता देती है परन्तु सदैव के लिये उनके क्रिया को रोक नहीं सकते। प्राकृतिक नियम अपना अटल क्रिया करते हैं। जैसे. मदिरा पीने से उन्माद होता है ऐसा ही दूसरों पर बल प्राप्त करने से हर्ष अवश्यमेव उत्पन्न होगा।

८६–गीता के सप्तमध्याय का ३० श्लोक कहता है कि ज्ञानी मुझको ही आधिदेव, आधिभूत और आदि यज्ञ में जानते हैं। मैं ही सब संसार को उत्पन्न करता हूं। मैं ही चलाता हूं। मैं ही इसका नाश करता हूं। मैं ही सब राज्य को बनाता हूं और मैं ही इनको बिगाड़ता हूं। यह सब मेरे नाटक की भिन्न भिन्न रंग लीलायें हैं। यह काल चक्र अनादि काल से इस प्रकार चला जाता है। गीता का एकादस अध्याय सब से बढ़कर सुन्दर दृश्य है। उसमें ब्रह्म के बिराट स्वरूप अर्थात् सृष्टि की स्विति और नाश के दृश्य को ऐसे शब्दों में वर्णन किया है जो कि मानवी लेखनी का काम नहीं। कहा है मैं सबसे बड़ा काल हूं जो कि सबका नाश करता हूं। देखो, किस प्रकार यह सारे योद्धा मेरी डाढ़ों के नीचे आकर पिस रहे हैं।

हे अर्जुन! तुम केवल "निमित्त मात्र" हो। यह चक्र तो स्वयमेव मेरी शक्ति से चल रहा है। कविता का महत्त्व और सुन्दरता इससे बढ़ नहीं सकती। इसी लिये अर्जुन अन्त में १८ अध्याय के ७७ श्लोक में कहता है, "हे हरि मैं उस अद्भुत स्वरूप को बारम्बार स्मरण करता हूं और प्रसन्न होता हूं"। यहां पहुंच कर इतिहास फिलौस्फी हो जाती है और फिलौस्फी इतिहास में परिवर्तित हो जाती है। दोनों एक रूप हो जाती हैं। जूं २ हमारे अन्दर ब्रह्म का चित्र तत्त्व के समीप पहुंचाता है तूं २ हमारी फिलौस्फी वास्तविक सत्ता और उसकी प्रकटता को, पदार्थ और उस के छाया को एक ही प्रतीत करती है।

दैवासुर-संग्राम।

८७-डार्वन ने जहां विकाश-सिद्धांत को स्पष्ट किया है वहां विकाश के व्यवहारिक नियम को भी एक विशेष नियम में लाना उसने आवश्यक विचारा है। उसने साथ यह आविष्कार किया है कि यह विकाश एक नियम पर चलता है जिसका नाम उसने 'योग्य का उत्वर्धन' रखा है। अर्थात् बनस्पतियों और पशुओं के अंदर परस्पर दूसरे संग्राम होरहा है जिसका आशय यह है कि प्रत्येक अपनी रक्षा करने की चेष्टा करता है। वे कुछ चिन्ता नहीं करते कि उससे दूसरे मरते हैं अथवा जीते हैं। इस संग्राम में जो वाह्य दशाओं के अनुसार अधिक होगा वह बच जायेगा और अन्य मारे जायेंगे। दूसरे शब्दों में प्रकृति स्वयं योग्य को चुनती है और अयोग्य को मार कर बनस्पति तथा प्राणीवर्ग में उन्नति करती है। योग्य से यह तात्पर्य नहीं कि वह अवश्यमेव सबसे उत्तम हो। यदि वस्तुतः देखा जाय तो बनस्पति तथा प्राणी संबंधी संसार में उत्तम कोई और अर्थ नहीं रख सकता, बिना इसके कि जिसे वाह्य दशायें अधिक अच्छी लगती हों इन वाह्य अवस्थाओं के अंदर मनुष्य का एक बड़ा अंश है किंतु जब मानुषी संसार में हम आते हैं तो योग्य के अर्थों में भी उन्नति होती है। यहां पर एक पुरुष को जीवित रहने के लिये अपने आप को वाह्य आवस्थाओं के अनुसार बनाना

पर्याप्त नहीं । उसे अपने कुल को योग्य बनाना चाहिये, अन्यथा एक योग्य कुल के मुकाबले पर अकेला योग्य पुरुष जीवित न रहेगा एक कुल को जीवित रहने के लिये आवश्यक है कि वह अपने वर्ण को भी बलवान बना ले । वर्ण को दूसरी जातियों के मुकाबले पर जिन्दा रहने के लिये अपनी जाति को योग्य बनाये जिसमें कई वर्ण मिले हुए हैं, अथवा एक योग्य जाति के मुकाबले पर वे वर्ण मारे जायेंगे । जातियों की अवस्था में वे अधिक विस्तृत होंगी जो कि प्राकृतिक नियम को जान कर प्राकृतिक शक्तियों को अपने वश में करेंगी, और उसके उत्पन्न किये हुए रोगों से अपने आप की रक्षा कर सकेंगी । मनुष्य की दशा में यह कहना अधिक यथार्थ है कि वह पुरुष जिन्दा रहेगा जिसकी जाति, वर्ण तथा कुल में योग्यता पाई जाती है । मनुष्य का आदर्श व्यक्तिगत नहीं परंतु जातीय हो जाता है ।

८८–डारविन ने वनस्पतियों के अन्दर अनन्त उदाहरण दे कर सिद्ध किया है कि भिन्न प्रकार के घास भूमि क्षेत्र में परस्पर संग्राम करते हैं । पहिले एक घास होता है । अल्प काल के पश्चात् दूसरा घास बढ़ना आरम्भ होता है । यदि वह बलतर हो तो पहिले घास के लिये उगने का कोई स्थान नहीं छोड़ता । वृक्षों की यही दशा है । बड़े वृक्ष के समीप छोटी २ लतायें बढ़ नहीं सकतीं । भूमि से सारा भोजन वह अपने लिये खींच लेता है । मच्छलियों में देखें, बड़ी मच्छली अपने से छोटे पर निर्वाह करती है । एक दूसरे का भोजन है । बन के प्राणियों की भी यही

दशा है। बलवान प्राणी निर्बल को मार कर अपना आहार बनाता है। कीट आदि पक्षियों का भोजन है। वे कीट प्रायः बचकर फैलते हैं जिनका रंग वृक्षों के पत्तों अथवा फूलों से मिलता हो। वे सुगमता से छुप सकते हैं। मृगों में वे मृग अधिक फैलते हैं जो तीव्र दौड़ने से अपने आप को बचा सकते हैं। मंद २ चलने वाले सुगमता से आखेट किये जा सकते हैं। दूसरे प्राणियों के अतिरिक्त प्रकृति भी बाह्य अवस्थाओं में बड़ा भाग रखती है। जहां अधिक शीत पड़ता है वहां केवल वही प्राणी बच सकेंगे जिन के शरीर पर बाल अधिक होंगे। गरम और मरु स्थानों में ऊंटों की विस्तृति की अधिक सम्भावना है क्योंकि इन का निर्वाह विना जल के हो सकता है।

हर्ब-स्पैन्सर इस सिद्धान्त को मनुष्यों पर वर्तता है। इस के मत में जीवन के लिये संग्राम समाज के अन्दर सभासदों में और जाति के विभिन्न भागों में और संसार की भिन्न जातियों में पाया जाता है। समाज की भिन्न श्रेणियों के अन्दर यह संग्राम प्राचीन काल से योरुप में पाया जाता है। इन का प्रणाम रोमा के इतिहास में धनाढ्य तथा निर्धन पुरुषों के संग्राम में मिलता है। एक कथा बहुत प्रसिद्ध है, जब कि रोमा के निर्धन व्यवसायी पुरुष नगर को छोड़ कर एक पर्वत पर जा बसे, उन की शिकायत थी कि उपार्जन वे करते हैं और सब कुछ भोगने वाले धनवान हैं। एक वृद्धपुरुष ने जाकर उन्हें उदर और हाथ पैर का दृष्टान्त दिया। एक बार हाथों और पैरों ने काम करना छोड़ दिया, इस कारण कि काम का

कष्ट उन को होता है और खाने के लिये उदर पूर्ति होती है। उदर में कुछ न गया। हाथ पैर भी सूखने लगगये। ऐसी हीं तुम्हारी दशा होगी। इस दृष्टान्त से प्रभावित होकर वे सब पुनः लौट आए। हरि वर्ष में यह संग्राम विशेष ढंग पर चलता रहा है। सब से पूर्व चर्च की शक्ति बलवान थी। यहां तक कि राजा भी पोप और उन के पादरियों के सन्मुख कांपते थे। संशोधन के उपरान्त सर्वशक्ति चर्च के हाथ से निकल कर राजाओं और उन के मंत्रियों के हाथ में आ गई। तत्पश्चात् फ्रांस के परिवर्तन ने एक और परिवर्तन उत्पन्न किया जिस से यह शक्ति साधारण पुरुषों के हाथ में चली गई। राजाओं की हरिवर्ष में कोई सत्ता न रही। पिछली अर्ध शताब्दी में व्यवसायी पुरुष जोकि हरिवर्ष के शूद्र समझे जाने चाहियें जाग उठे हैं। भावी हरि वर्षीय संग्राम केवल इनहीं पुरुषों का है और इन का भविष्य स्पष्ट और प्रकाशमय प्रतीत होता है।

९०–केवल मानव जाति में इस संग्राम का वर्णन करते हुए गीता के १६ अध्याय में उसे दैवी और आसुरी-प्रकृतियों के संग्राम के समान प्रकट किया है। इन दोनों प्रकृतियों का संग्राम सदैव चलता रहता है। नवम श्लोक में कहा है कि आसुरी-प्रकृति के लोग मनुष्य जाति के शत्रु उत्पन्न होते हैं। इन के गुण छल, कपट तथा अपवित्रता संसार में नाश लाते हैं। दैवी प्रकृति वाले संसार का उपकार करते हैं। इन के गुण, निर्भयता, शौच और सत्य आदि हैं। पाशविक संसार में तो यह

विषय स्पष्ट है। भेड़ और भेड़िये से पूछो कौनसी बात उत्तम है, निर्बल की रक्षा करनी चाहिये। अथवा उसे भक्षण कर जाना चाहिये। दोनों का उत्तर सर्वथा विभिन्न होगा। भेड़ तो कहेगी कि निर्बल की रक्षा करना अच्छा है। भेड़िया सर्वथा उसके विपरीत कहेगा। मानव दशा में यह दोनों विपरीत प्रकृतियां हैं। उद्यान में जाओ, एक ओरतो सुन्दर सुगन्धिमय फूल हैं और इनके संग शरीर को चुभने वाले कांटे हैं। मनुष्य भी साधारणतया दोनों प्रकार के हैं। कोई ऐसे भी हैं जो बीज के सदृश अपने आपको नाश कर देते हैं और बड़े फलवाले वृक्ष उत्पन्न करते हैं। वे दैवी और आसुरी-प्रकृति से भी परे हैं। इन दोनों प्रकृतियों का संग्राम संसार में चल रहा है। मनुष्यों के अन्दर भी प्रत्येक समय दो प्रकार के भाव परस्पर संग्राम करते हैं। या तो दैवभाव विजय को प्राप्त होता है या आसुरी भाव। मनुष्य इस क्षण २ के विजय वा पराजय के अनुसार आगे बढ़ता अथवा नीचे जाता है।

९१–पुराणों के अन्दर अलङ्कार रूप में देवताओं तथा दैत्यों के युद्ध का वर्णन बहुत स्थल पर पाया जाता है। उपनिषद् में देवता और असुर से तात्पर्य इंद्रियों और विषयों का लिया गया है। ये प्रतिक्षण परस्पर युद्ध करती हैं।

यदि आगे देखा जावे तो संसार में दैवासुर गुणों का युद्ध सदैव चलता रहता है। जब एक कन्या लाखों रुपयों पर लात मार देती है और अपनी पवित्रता नहीं बेचती तो उसमें भी देवगुण की विजय होती है। यदि वह

अपनी पवित्रता की रक्षा में प्राण त्यागती है तब भी देवगुण की जीत होती है। परंतु इस विजय से पूर्व दो गुणों का अत्यंत तुमुल युद्ध होता है। मनुष्य का शरीर तो मरने के लिये बना है। केवल विचार जीवित रहता है। इन विचारों का देवलोक अथवा इंद्रलोक बनता है जिसमें पितर रहते हैं। प्रथमाध्याय के ४२ श्लोक में पिंड आदि का जो वर्णन है वह उनकी स्मृति की स्थिति से अभिप्राय है। संसार में तम और प्रकाश का, पवित्रता और अपवित्रता का, और धर्म तथा अधर्म का सदैव युद्ध रहता है। जब लाखों फ्रैंच और जर्मन युद्धक्षेत्र में सामने आकर खड्ग और गोला चलाते हैं तो वे पुरुष इतनी सत्ता नहीं रखते। वास्तविक युद्ध तो दो गुणों के मध्य में होता है। एक देश दूसरे के साथ थोड़ा अन्याय करता है। उस अन्याय के विरुद्ध दूसरे देश में घृणा की अग्नि प्रज्वलित होती रहती है। दोनों विचारों की शक्ति बढ़ती है, जबकि अन्याय और घृणा परस्पर युद्ध केलिये एकत्रित होते हैं। इसीप्रकार महाभारत का युद्ध दुर्योधन के विरुद्ध न था किन्तु रावण और कंस के विरुद्ध युद्ध के समान दैत्यगुण के विरुद्ध था। जब सिक्ख मुग़ल सेना के विरुद्ध लड़ते थे तो वास्तव में गुरु तेग़बहादुर का कटा हुआ शिर लड़ता था।

९२–जब एक महापुरुष संसार में एक नया विचार उत्पन्न करता है तो समस्त वर्तमान शक्तियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करता है। यह विचार राजनैतिक स्वतंत्रता का हो सकता है अथवा धार्मिक स्वतंत्रता का।

एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के आधार पर एक नया मत चलाया है। उसका विचार लाखों और क्रोड़ों पुरुषों के मनों को स्वाधीन करके उन्हें अपना साधन बना लेता है। ऐसे ही एक विचार ने संसार की काया पलट दी। विचार के सामने एक मनुष्य क्या, लाखों पुरुषों के जीवन की कोई सत्ता नहीं रहती। एक धार्मिक विचार के प्रभावों के अन्तर्गत कितने युद्ध हुए। कितने ही निर्दोषो बध किये गए। क्या २ कष्ट मनुष्यों पर आए इनसे इतिहास के पृष्ठ रक्तारुण हैं। बुरा विचार ऐसा है जैसे एक मनुष्य अपने भीतर मल एकत्रित करके एक क्षयरोग प्लेग इत्यादि का बीज उत्पन्न करता है, जोकि समग्र जगत में नाश उत्पन्न कर देती है। मसीह एक दास-जाति में उत्पन्न हुआ उसकी शिक्षा भ्रातृभाव के प्रेम तथा समानता के सिद्धांतों सी भरी थी। बलवान पुरुषों ने उनको दबाना चाहा। वे सिद्धांत सफल हुए। मसीह से पूर्व एक पुरुष सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाता है और अपना शरीर बीचमें डाल देता है। वह एक विचार-शक्ति उत्पन्न करता है। रोमा में दास रखने की रीति थी। धनाढ्य पुरुषों को दो मनुष्य लड़ाकर देखने में बड़ा आनन्द आता था जैसे लोग बैलों को अथवा कुक्कुटों को लड़ाते हैं। यह युद्ध बड़े २ थ्येटरों में हुआ करता था। एक का वध होजाने पर सहस्रों प्रेक्षकजन हंसते कूदते थे। ऐसा ही एक तमाशा होने लगा। दोनों ओर से खड्ग चमकने लगा। अकस्मात् एक वृद्ध बीच में घुस गया। खेल रुक गयालोग उसके विरुद्ध चिल्लाने लगे। दोनों योधाओं ने

उस पर खड्ग चलाए वह रक्तपूर्ण भूमि पर गिर पड़ा। खेल सदैव के लिये बन्द होगया। उस मनुष्य का नाम ठीक २ संसार को ज्ञात नहीं। आर्केमीडिज़ था अथवा आर्टेमीडिज़ था। परन्तु इतनी बड़ी आसुरी-शक्ति के विरुद्ध एक देवगुण ने अत्यन्त शांति से युद्ध किया और विजय प्राप्त की।

९३-आसुरी-प्रकृति की तैह में स्वार्थता का भाव काम करता है और दैवीप्रकृति की तैह में निःस्वार्थता का। इस स्वार्थता का वर्णन १६ अध्याय के १३, १८, १९, २०, २१ श्लोकों में पाया जाता है। एक आसुरी-प्रकृति वाले पुरुष का विचार होता है कि जिस पदार्थ का उससे संबंध है वह सबसे उत्तम है। इससे उत्तम होना सम्भव ही नहीं। वह एक धर्म को अपना मान लेता है, उसके लिये उसके मनमें ऐसा पक्षपात हो जाता है कि वह दूसरों को संसार से मिटा देना चाहता है। जिस देश में उसका जन्म हुआ है उसके लिये सर्व संसार को नाश करने पर उद्यत हो जाता है। वह अपनी इच्छा के सम्मुख किसी की परवाह नहीं करता। ऐसे मनुष्य अपने अधिकारों को ही समझते हैं। उन्हें अपने कर्तव्यों का कभी विचार नहीं आता। मेज़नी कहता है कि फ्रांस की क्रान्ति में ऐसे पुरुषों की संख्या बहुत अधिक थी। वे प्रत्येक समय स्वार्थ का वर्णन करते थे अतएव वह क्रान्ति सफल न हुई यदि समाज में सब अपने अधिकारों ही की ओर खैंचने वाले हों वह समाज विप्लव में ही रहता है। पुरुष कतिपय इष्टमित्र भोजन करने बैठे हों, यदि प्रत्येक अधिक खाने की चेष्टा

करे और दूसरों का कोई विचार न करे तो उनमें परस्पर युद्ध ही रहेगा। स्वार्थी कभी परस्पर सहमत नहीं हो सकते।

कथन है कि तीन पुरुष मृत्यु को मारने के लिये चल पड़े। मार्ग में मृत्यु का देवता एक वृद्ध पुरुष का रूप धारण किए हुए उनको मिला। उनको उसने एक भूमि में गड़े हुए धन का पता बता दिया। तीनों ने उसको परिश्रम से खोद कर निकाला। एक पुरुष को रोटी लाने के लिये नगर को भेजा। तीनों का मन फिर गया। वह तो रोटियों में विष डाल लाया। उन्होंने आते ही छल से संग्राम करके उसे मार डाला। स्वयं रोटी खाकर मर गए। आसुरी-समाज ऐसे पुरुषों का बना होता है, स्वयं नष्ट होते हैं और समाज का नाश करते हैं।

९४- जर्मन फिलौसफर निटशे इस काल का बड़ा तत्ववेता हुआ है। उसने विकाश के सिद्धांत से एक पद आगे बढ़ने का यत्न किया है। वह संग्राम तथा वरण के सिद्धांत को पर्याप्त नहीं समझता। वह कहता है कि उस के साथ २ प्रकृति का विशेष उद्देश्य है, और वह नमूना का प्रशस्तता उत्पन्न करना है। प्रकृति में निरन्तर चेष्टा पाई जाती है कि योनि का आगामी नमूना गतसमस्त योनियों से उत्तम हो। प्रकृति की सहायता से हम मानव दशा में पहुंचते हैं। अब हमारा कर्तव्य है कि अपने अन्दर से एक नई योनि उत्पन्न करें जो कि शारीरिक तथा आत्मिक गुणों में मनुष्य से ऐसी ही आगे होनी चाहिये जैसा कि मनुष्य पशुओं से।

इस योनि का नाम उसने देवयोनि रखा है। इस देव-योनि को उत्पन्न करने की उसकी विशेष विधि है। वह कहता है कि प्रकृति में असमानता है। पुरुष भी बुद्धि में बड़ा भेद रखते हैं। इस असमानता से हमें लाभ उठाना चाहिये, परंतु इस असमानता का प्रयोजन ही यही है कि जो मनुष्य आत्मिक तथा शारीरिक अवस्था में अच्छे हों उनकी जाति को उन्नत करके एक नई योनि उत्पन्न कीजाए जैसे कि बालू में से सुवर्ण-कणों को चुन लिया जाता है।

आजकल वनस्पति को इस विधि पर कृषि करके बीज को बड़ा और उत्तम बनाया गया है। गेहूं का दाना मोटा २ चुन कर कृषि करने से कौड़ी के समान उत्पन्न कर लिया गया है। आर्यों में प्राचीन काल से गौ जाति को अच्छा करने का विचार था। सांड को छोड़ देना पुण्य समझा जाता था। आरम्भिक श्रेणियों को वह उच्च स्तम्भों की नींव से उपमा देता है जो कि बहुत विस्तृत हैं, परंतु उन का काम केवल शिखर को आश्रय देना है। विशेष पुरुष उच्च स्तम्भोंके शिखर के समान हैं। जो कि तूफान तथा आंधियां शिर पर उठाते हैं परंतु सर्वदा सूर्य्य के प्रकाश में रहते हैं। आरम्भिक श्रेणियों का आशय वह केवल इस उत्तम श्रेणी को उत्पन्न करना ही समझता है। आधुनिक सम्वाद को जो कि सब पुरुषों को समान बनाना चाहता है वह एक रोग निश्चित करता है जो कि ईसाई शिक्षा से उत्पन्न होता है। ईसाई आचार को वह एक दास जाति का आचार समझता है अतएव उसके विचार में उसकी कोई प्रतिष्ठा न करनी चाहिये।

८५–इस योनि उत्पन्न करने के जो नियम उस ने बताए हैं वे सब मनु के धर्मशास्त्र से लिये हैं। वह कहता है "कि संसार की बुद्धि तथा परीक्षा को मनु ने एकत्रित किया है।" उस का निश्चय अन्तिम है। उस से इतस्ततः जाने का कोई मार्ग नहीं। जाति की उन्नति के मार्ग के लिये परिणाम निकाले गए हैं वरण के सिद्धान्त को वह अपने आशय के लिये आवश्यक समझता है। ब्राह्मण वह उत्तम श्रेणी है जिसे और उन्नत करने से वह नई योनि उत्पन्न करना चाहता है। आर्यशास्त्रों में ब्राह्मण को समाज के सर्व गुणों का सार माना गया है। अतः यहां तक कहा है कि यदि नगर को आग लगी हो तो सब से पूर्व ब्राह्मण की रक्षा करना धर्म है। अन्य श्रेणियों की ब्राह्मण के सन्मुख कुछ भी सत्ता न थी। मनुष्य ब्राह्मणों को पवित्रता और सुन्दरता का प्रतिनिधि मानता है। उन का अधिकार सदाचारी होना है। अपने आप को वश में रखना उन का काम है। तप उन की प्रसन्नता है। ज्ञान उन की क्रीड़ा है। वे शासन, शासन के लिये नहीं करते किन्तु इस लिये कि वे शासन के लिये उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति ने यह विभाग किया है मनु ने नहीं। स्वार्थ भी दो प्रकार का होता है। एक काम स्वार्थ जिस में मनुष्य अपना ही लाभ देखता है, दूसरा स्वार्थ उस का है जो दूसरों के लिये जीवित रहता है। उस का स्वार्थ भी श्रेष्ठ है। ब्राह्मण का जीवन उपकार के लिये है। उस का अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में रक्षा करना धर्म है। यद्यपि ब्राह्मण सर्व वस्तुओं का पति स्वामी था परंतु उस का किसी वस्तु

पर अधिकार न होता था। जब एक ब्राह्मण नंगे शिर और नंगे पैर राजसभा में जाता था तो उस के तप के बल से राजा लोग खड़े हो जाते थे।

गीता के तृतीय अध्याय के १४, १५ श्लोकों में कहा है कि संसार एक यज्ञ है जिस में प्रत्येक वस्तु दूसरे के आश्रय पर चलती है। सर्व प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। अन्न मेघों से, मेघ सूर्य की रश्मियों के प्रभाव से। यह यज्ञ ब्रह्म है। जो मनुष्य इस संसार चक्र को आगे नहीं ले जाता उस का जीवन निरर्थक है। ब्राह्मण होना ही संसार को आगे ले जाने के लिये यज्ञ है।

सूर्य्य सब से बड़ा यज्ञ रूप है। उसकी किरणें न केवल समुद्र से वाष्प लेकर मेघ बनाती हैं किन्तु पौदों को, मनुष्य को, जीवन देती हैं। सूर्य न मिलने से पौदा कुमला जाता है। मनुष्य के अन्दर से जीवन शक्ति जाती रहती है। रंग पीला पड़ जाता है। निद्रा नहीं आती है।

९६-फिलौस्फर की विधि तथा मनु की विधि में एक अन्तर है। फिलौस्फर उस जाति को उत्पन्न करने के लिये युद्ध को बड़ा पवित्र साधन समझता है। युद्ध को केवल अपनी प्रतिष्ठा तथा शक्ति बढ़ाने के लिये अच्छा नहीं समझता वह अपने पुराने देवता (woodeu) की पूजा करने वाला है जो युद्ध का देवता था ईसाइयों के ईश्वर से उसे बहुत बड़ा और बलवान मानता है। मनु यदि ऐसी देवयोनि उत्पन्न करना चाहता है तो वह देवगुणों को उन्नत करते २ सच्चे ब्राह्मण उत्पन्न करके, और फिलौस्फर छोटी जातियों तथा छोटी श्रेणियों को दबाने

और नाश करने से। गीता भी आसुरी भावों को नाश करना चाहती है। मनुष्यों से कोई द्वेष नहीं होना चाहिये। यदि देवगुण संसार में उन्नति करेंगे तो छोटे गुण स्वयमेव संसार से मिट जायेंगे। छोटे भाव न रहने से छोटी श्रेणियें स्वयं दूर हो जायेंगी। छोटे गुणों से मनुष्य छोटे बन जाते हैं। उत्तम गुणोंसे मनुष्य उत्तम हो जाता है। गीतामें जहां क्षत्रिय के लिये युद्ध करना कहा है वहां केवल उस दशा में जब निर्बल की रक्षा करनी हो-अथवा किसी अन्याय को दूर करना हो। १८ अध्याय का ४३ श्लोक में क्षत्रिय के गुण शूरता, वीरता, निर्भयता, युद्ध में दक्षता और दान बताए हैं। यदि क्षत्रिय भयभीत हो कर दौड़ जाए तो वह पाप का भागी होता है। केवल निर्भयता काम की नहीं, इस के साथ बुद्धि अथवा विचार का होना आवश्यक है प्रायः पुरुष बिना बुद्धि से विचार किये कई कार्य आरम्भ कर देते हैं वे अपने आप को और अपने संगियों को गढ़े में डाल देते हैं। दूसरे हैं जिन के हृदय में बल अथवा निर्भयता नहीं होती। वे थोड़ा सा भय आने पर स्वयं गिरते हैं और दूसरों को गिरा लेते हैं। अधिक संख्या में तो ऐसे होते हैं जिन का मन स्वार्थ से भरा होता है। जोश आने पर वे आगे चलपड़ते हैं किन्तु शीघ्र ही स्वार्थवश हो कर सब धर्म कर्म को त्याग देते हैं। क्षत्रिय का धर्म है जब कि मेज़नी एक स्थल पर कहता है जहां कहीं अन्याय देखो पुरुष अथवा स्त्री पर, काले अथवा गोरे पर तत्काल अपनी आवाज उस के विरुद्ध उठाओ और उस अन्याय को मूल से उखेड़ दो।

राज-योग।

९७–यह कथन है, कि जब मृग की नाभि में कस्तूरी की सुगन्धि आने लगती है तो वह उसके अन्वेषणार्थ इधर उधर दौड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य जन्म को पा कर जीवात्मा एक सुगंध को अनुभव करता है, और जान कर अथवा न जान कर उसके अन्वेषण में भटकता है। मृग तो वह सुगंध लताओं आदि में ढूंढता है, जीव इसे इन्द्रिय विषयों में।

एक स्थल पर प्रश्न उठाया गया है जीव की स्वाभाविक स्वरूप क्या है? सुख अथवा दुःख। उसके लक्षणों में दोनों सुख दुःख पाये जाते हैं, यद्यपि एक से जीव परे जाता है और दूसरेको प्राप्त करना चाहता है।

९८–आर्य दर्शन और बुद्ध फिलौसफी इसी एक प्रतिपदित सिद्धान्त को अनुमान करके आरम्भ होती है कि जीव सुख की अन्वेषणा में लगा है प्रत्युत संसार में सुख के स्थान में सब को दुःख ही दुःख दिखाई देता है। इस का कारण ढूंढते हुए समस्त दर्शनकार एक ही परिणाम पर पहुंचते हैं। योग-दर्शन तो इसे अविद्या बताता है। वेदान्त इसे माया कह देता है। सांख्य अविवेक नाम देता है। इस माया अथवा अज्ञान का कारण तृष्णा अथवा विषय बासना है जिसमें बंधा हुआ मनुष्य भूला फिरता है। इस भूले मनुष्य की दशा पर एक बड़े साएड का

दृष्टान्त दिया गया है। साण्ड के गले में लम्बी रस्सी है जो कि एक वृक्ष से बंधी है। साण्ड एक विस्तीर्ण क्षेत्र में चरता है। उसका मुख एक ओर है और वह फिरता हुआ चरता है। शनैः २ वह रस्सी वृक्ष के गिर्द लिपट कर छोटी होती जाती है। समय आता है कि रस्सी समाप्त हो जाने पर साण्ड वृक्ष के साथ जा पहुंचता है। आगे जाना चाहता है परंतु जाए तो कैसे? वृक्ष के साथ बंधा हुआ शिर मारता है। कोप में जलता है किन्तु सब व्यर्थ। उसकी सारी विपत्ति उसके अज्ञान में है। कोई उसे पथ-दर्शक मिल जाय, उसका मुख दूसरी ओर मोड़ दे उस का सारा कष्ट तत्काल मिट सकता है। हम भी तृष्णा की रस्सी से बंधे हैं और अज्ञान में पड़े दुःख उठाते हैं।

९९–गीता के तृतीय अध्याय के ३७, ३८, ३९ आदि श्लोक अत्यन्त सुन्दररूपेन यह बताते हैं कि किस प्रकार यह तृष्णा आत्मा को ढांप कर अज्ञान में डाल देती है जैसे धूम अग्नि को, और धूलि शीशे को। यह तृष्णा हमारा स्थायी शत्रु है। इन्द्रियां, मन और बुद्धि इसके स्थान हैं जिनमें विराजमान हुई २ आत्मा पर पर्दा डाल देती है। अपनी इन्द्रियों को वश में लाकर पहिले इस पापिनी का नाश करना चाहिये।

४३ में भी कहा है कि इस प्रकार आत्मा और उसकी सहायता से इन्द्रियों को रोक कर उस शत्रु को पराजित करो।

दूजे अध्याय के ६०, ६१, ६२, ६३, ६७, ६८ में कहा है कि यह इन्द्रियां ज्ञानी से लग कर उसके हृदय को पकड़ लेती हैं। इनको वश में लाकर मनुष्य ध्यान कर सकता

है। विषयों का विचार करने से इनसे प्रेम होता है। इस से तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा से क्रोध, क्रोध से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि न रहने से मनुष्य किसी काम का नहीं रहता। विषयी पुरुष का मन ऐसा डावांडोल होता है जैसा कि पोत तूफान के समय डोलता है। इस लिये हे महाबाहो! इन इन्द्रियों को विषयों से हटा कर वश में ला।

—:o:—

महाभारत का दृष्टान्त ।

१००–महाभारत के स्त्री पर्व में विदुर ने धृतराष्ट्र को दृष्टान्त दे कर संसार का एक विचित्र चित्र खैंचा है। उसमें कहा है, यह संसार एक विशाल बन है इसमें जीवन एक जंगल के सदृश है। इस बन में रोग सिंह, चीता, भेड़िया इत्यादि जीव हैं। इन सब से बढ़ कर वृद्धावस्था एक चुड़ैल के समान मनुष्य के गले से लटक रहा है। मनुष्य उनसे बचने के लिये दौड़ता हुआ एक गहरी गुहा के तट अर्थात् शरीर में आ गिरता है। इस गुहा में शिर नीचे करके लटक जाता है। इस गुहा के तट पर बहुत सी लतायें उगी हुई हैं। यह लतायें विषय हैं। साथ ही वहां पर एक हाथी (वर्ष) छः मुख वाला (ऋतिओं से अभिप्राय है) और १२ टांगों वाला (१२ मास हैं) मनुष्य को मारने के लिये उपस्थित है। जिस शाखा के आश्रय मनुष्य लटका है उसे दो मूषक एक सफेद और दूसरा काला अर्थात् दिन और रात्रि काट रहे हैं। गुहा के भीतर

एक काला सर्प (काल) मुख खोले पड़ा है। उन लताओं के अन्दर एक मधु का छत्ता लगा है जिससे एक बिन्दु नीचे गिरता है। जब यह बिन्दु मनुष्य के मुखमें जा पड़ता है उसे ऐसा मधुर लगता है कि वह गुहा में उलटा लटका हुआ भी समस्त कष्टों और दुःखों को भूल जाता है। यह बिन्दु तृष्णा की पियास को और भी बढ़ा देता है, यद्यपि पियास बढ़ने से उसे अति दुःख होता है। परंतु इस मधुरता की आशा ऐसी भली प्रतीत होती है कि वह उस की ओर दृष्टि लगाए लटकता रहता है और उसे अधिक जीवित रहने की इच्छा लगी रहती है।

उसको पाने के मार्ग कई हैं।

१०१-गीताके अध्याय ७के ३श्लोकमें कहा है कि सहस्रोंमें कोई एक सिद्धि चाहता है। उन चाहने वालोंमें से कोई ही उस के लिये यत्न करता है। उन यत्न करने वालोंमें से कोई मुझको जान सकता है क्योंकि जानना केवल यह है जो कि जैसा १३ अध्याय के २७ श्लोक में कहा है "देखता वही है जो सब संसार के नीचे एक सार को पहिचानता है"। इस के अतिरिक्त कि यह जानना इतना कठिन है। ४अध्याय के ११ श्लोक में कठिनता को दूर कर दिया है। यह कह कर कि मनुष्य जिस मार्ग से मेरे समीप आते हैं मैं उसी मार्ग से उनको स्वीकार करता हूं।

इसकी ओर आने के कई मार्ग हैं। १३अध्याय के २४श्लोक में कहा है कि इस अज्ञानको दूर करने की कई विधियां हैं। कई ध्युरुष ध्यान से, कई कर्म द्वारा, कई ज्ञान मार्ग द्वारा ज्ञानको प्राप्त होते हैं। भक्ति-मार्ग एक और पथ है। इन चार बड़े

मार्गों में से पहला ध्यान है। ध्यान करने की विधि राजयोग कहलाती है। गीता के अध्याय छः में राजयोग का अत्यन्त सुन्दर और संक्षिप्त वर्णन है। किस प्रकार मनुष्य शुद्ध स्थान में आसन लगा कर प्राणायाम करे और ध्यान करने का अभ्यास करे। यम, नियम आदि आठों का सम्पूर्ण वर्णन योग दर्शन में पाया जाता है।

मन को कैसे स्थिर करना चाहिये।

१०२–ध्यानयोग में मनकी एकाग्रता प्राप्त करना आवश्यक है। जिधर२ मन दौड़ता है उसे इधर उधरसे हटाकर एक स्थान पर स्थिर करना। मन का दौड़ना सुगमता से समझ में आ सकता है। नेत्र बन्द करके एक मिनट देखो मन किधर २ घूमता है। इसे घूमने से रोकने का यत्न करो जितना यत्न करोगे उतना ही अधिक इधर उधर दौड़ेगा। शरीर को एक रथ कहा गया है। इन्द्रियां इसके घोड़े हैं। मन इसकी बाग है। आत्मा रथवान है। बाग वश में रखने से घोड़े वश में रहते हैं। मन स्थिर होने से वश में आ सकता है। यही सब से कठिन बात है। इस की कठिनता का अनुमान इस से लग सकता है कि अर्जुन जैसा एकाग्रचित पुरुष योग का वर्णन सुनकर प्रश्न करता है, हे कृष्ण! मन को वश करना ऐसा है जैसा तूफान को। इस को कैसे करना चाहिये? अर्जुन की शक्ति देखिये, उन के गुरु द्रोणाचार्य ने सब शिष्यों को एकत्रित करके उन की परीक्षा लेनी चाही। उन से कहा कि वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी के नेत्र में तीर लगाओ। एक २ को पास

बुलाता था और पूछता था क्या देखते हो ? सब के सब उत्तर में पक्षी अथवा उस के साथ वृक्ष की शाखा का नाम लेते थे। केवल अर्जुन था जिस ने कहा कि मैं केवल नेत्र देखता हूं। पूछा और ? कहा और कुछ नहीं, केवल उस नेत्र पर ही दृष्टि है।

इस मन की चञ्चलता अभ्यास और वैराग्य से दूर होती है।

१०३–सब जीवों में वानर बड़ा चञ्चल है। उसे एक क्षण भी विश्राम नहीं आता। मन को एक बानर से उपमा दी गई है किन्तु बानर भी वह जिसे मदिरा पिलाई गई हो और फिर उसे एक बिच्छू काट खाए। जैसे उस वानर की चञ्चलता की कोई सीमा नहीं ऐसे ही मनुष्य की दशा है, जिस ने प्रत्येक समय अभिमान की मदिरा पी है और द्वेष का बिच्छू उसे समय २ काटता रहता है। फिर भी इसे एकाग्र किये बिना ध्यान मार्ग पर एक पद नहीं उठ सकता गीता में इस का रहस्य बताया है। अर्जुन को उत्तर दिया है कि यद्यपि यह मन बड़ा बलवान और दुर्निग्रह है परंतु अभ्यास और वैराग्य से यह वश में आ सकता है। अभ्यास से असम्भव प्रतीत होने वाली बातें सम्भव हो जाती हैं।

खेल तमाशों में देखा जा सकता है कि किस प्रकार वानर, गज इत्यादि जीव ऐसे २ खेल करते हैं जिन से मनुष्य विस्मित होता है। किस प्रकार मनुष्य अभ्यास करने से नेत्र बंद करके केवल शब्द पर निशाना लगा

सकता है। शरीर के साथ अभ्यास करने से दुर्बल बलवान बन सकता है। योगी लोग शरीर को ऐसा बना लेते हैं कि केवल वायु पर जीवित रह सकते हैं। मन का अभ्यास यही है कि इस को सब ओर से हटा कर किसी एक विशेष वस्तु अथवा विचार में लगाया जाए। हटाने की विधि वैराग्य है। धर्म उपदेश सुनने और साधु की संगत करने से संसार का एक रस में न रहने का ध्यान आता है और विषय वासन न्यून होती है। गीता में कहा है विषयों का ध्यान करने से काम उत्पन्न होता है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह और मोह से स्मृति जाती रहती है और बुद्धि नाश होती है। बुद्धि दूर हो जाने से मनुष्य नाश को प्राप्त होता है। तुलसी दासजी ने एक स्थल पर कहा है "जा को प्रभु दारुन दुःख दे हैं, ता की मत पहिले हरे हैं।" प्रभु जिस को सब से बड़ा दुःख देना चाहते हैं उस की बुद्धि हर लेते हैं। यदि कोई मनुष्य पाप करता है तो ईश्वर उसे आ कर चपेटिका नहीं लगाता नहीं उसे शृंखला में बांधता है परंतु उस की बुद्धि को नष्ट कर देता है। पापी की मृत्यु पाप कर्म करने में होती है। ऊपर कहीं से नहीं आती। इन्द्रियों के वश हुआ मन विषयों के आधीन रहता है। विषयों की वायु इसे हिलाती रहती है और शान्त नहीं होने देती। गीता के ६ अध्याय के १८, १९, २० श्लोकों में बताया है कि एकाग्रचित उस ज्योति के समान है जो कि वायु से सर्वथा रहित बिना किसी गति के स्पष्ट जलती है। ऐसा ही मन शान्त हो कर आत्मा को अपने अन्दर देख सकता है।

प्राणायाम इस में सहायता देता है।

१०४-६ अध्याय के १२,१३ श्लोक में कहा है कि प्राणायाम मन को स्थिर करने में सहायता देता है। प्राणायाम का प्रयोजन श्वास को ठीक करना और साथ ही श्वास को लम्बा करने की शक्ति उत्पन्न करना है। परीक्षा द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि श्वास का ठीक चलना नाड़ियों को दृढ़ता से विशेष सम्बंध रखता है इन के दृढ़ होने से मन की स्थिरता असाधारणतया बढ़ जाती है। अध्याय ४ के श्लोकों में यज्ञ का वर्णन करके २६, २७ में इन्द्रियों के अपने अन्दर डालने को भी यज्ञ ही कहा है। यह इन्द्रियों के यज्ञ नासिका, नेत्र, श्रोत्र आदि द्वारा किये जा सकते हैं। साधारण बात है, किस प्रकार (hypnotism) हिप्नॉटिस्म करने वाले पुरुष एक काला चिन्ह सा बना लेते हैं और निर्निमेष उस की ओर देखते रहने का अभ्यास करते हैं जिस से उन की दृष्टि में दूसरों पर प्रभाव डालने की शक्ति पत्पन्न हो जाती है। बहुत लोग हैं कि जो वाणी से "ओ३म्" शब्द अथवा किसी और मंत्र का जाप करके मन को थका कर इसे स्थिर करने का यत्न करते हैं।

दूसरे पुरुष कबीर पन्थी आदि हैं जो कि कानों को बन्द करके अंदर के शब्द को सुनते और उस पर मन स्थिर करने की चेष्टा करते हैं। इसे वह सीमा रहित शब्द कहते हैं। नासिका द्वारा दीर्घ श्वास लेना एक अच्छा व्यायाम और स्वास्थ्य के लिये अतीव लाभकारी समझा जाता है। जिन नवयुवकों को नाड़ियों की निर्बलता का

रोग हो गया उन्हें बहुत थोड़ा सा आरम्भ करके शनैः २ प्राणायाम की उन्नति करना स्वस्थ कर देता है। इसी प्रकार जिन मनुष्यों को वद्धकोष की शिकायत सदा रहती हो उन्हें नासिका से वायु निकाल करके गुदा के मार्ग से वायु ऊपर चढ़ाना ऐनीमा का काम देता है।

—:o:—

यम नियम आदि पर चलना।

१०५–दूसरे अध्याय के ५८, ५९, ६४ श्लोकों में कहा है जब मनुष्य मन को इन्द्रियों से ऐसे पीछे हटा लेता है जैसे कूर्म अपने को सुकेड़ लेता है तो विषय वासना शनैः२ मंद पड़नी अरम्भ होती है। मंद होते २ उस वासना का विचार भी चित से उड़ जाता है। तब ही आत्मा का दर्शन प्राप्त होता है। आगे बताया है कि इन्द्रियों को निराहार रखने से विषयों से पीछा छूट सकता है। इन्द्रियों को व्रत में रखना बड़ा भारी तप है। यम और नियम इस के बड़े साधन हैं। पांच यम हैं जिन का दूसरों से सम्बंध है। यह आरम्भिक नियम हैं जिन पर समाज स्थित है। इनके बिना समाज चल नहीं सकता और जिस समाज में यह न हों वहां रह कर मनुष्य कभी ध्यान नहीं कर सकता। (१) अहिंसा, किसी दूसरे से वैर भाव न रखना। (२) सत्य, दूसरों से सत्य का वर्त्ताव करना (३) असत्य, दूसरों के पदार्थ को अनधिकार न लेना। (४) ब्रह्मचर्य, दूसरों के साथ पवित्र आचरण का वर्त्ताव रखना (५) अपरिग्रह, का प्रत्येक स्थान में अपने आप को न घुसेड़ना।

नियम भी पांच हैं जिन का हमारे अपने जीवन से सम्बंध है। उन पर न चलने से दूसरों की कोई हानि नहीं होती किन्तु हमारे अपने ऊपर प्रभाव हो कर हम को अयोग्य कर देता है। वे नियम यह हैं। शौच अर्थात् शरीर और मन की पवित्रता। संतोष अर्थात् अपने पर धैर्य करना। तप या इन्द्रियों को प्रबंध में रखना। स्वाध्याय, किसी धर्म-पुस्तक का प्रतिदिन पाठ करना। प्रणिधान, परमात्मा पर विश्वास रखना। वानप्रस्थ आश्रम जीवन का एक विशेष भाग इस लिये रखा गया है कि मनुष्य ध्यान मार्ग पर सफलता से चलने के लिये कुछ काल पर्यन्त सन्सार और उस के लोगों से परहेज़ रखे। कहा जा सकता है कि इस प्रकार विषयों से दौड़ जाना क्या बीरता है। वहां का त्याग तो आवश्यक बात हो जाती है। बात यह है कि मन पर विजय प्राप्त करना बड़ा कठिन है। यह समय अपने आप को तय्यार करने के लिये है ताकि जीतने की शक्ति उत्पन्न हो जाए। जिन्हेंने कारागृह के जीवन को अपनी उन्नत के लिये प्रयोग करने की चेष्टा की है वे जानते हैं कि इन्द्रियों को भिन्न प्रकार के भोगों से 'निराहार' रखने के एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यदि वानप्रस्थ में रह कर मनुष्य का मन विषयों का स्मरण करता रहे तो जैसा गीता के अध्याय ३ के ६ श्लोक में बताया है वह मूढ़ और ठग है।

ज्ञान की अवस्था ।

१०६–ध्यान के समय यह देखना कि चित किधर जाता है और कौन सा उसे आकर्षण है, उस आकर्षण को तोड़ कर उधर से हटाना प्रत्याहार कहलाता है। इसके आगे चित की एकाग्रता है। इससे ध्यान प्राप्त होता है और ध्यान से समाधि मिलती है जब कि आत्मा अपने अन्दर मग्न हो जाता है। इस मन की अवस्था कमल पत्र कीसी होती है जो कि जल में रहता हुआ कभी गीला नहीं होता। शुकदेव महाराज के उदाहरण से राजा जनक ने अपनी सभा के लोगों को इस मार्ग का उपदेश किया। शुकदेव को परखने के लिये तैल से भरपूर एक कटोरा दिया और उन्हें सारे नगर में फिर कर आने की आज्ञा की इस शरत पर कि उस में से एक बिन्दु गिरने न पाये। नगर की परिक्रमा करके शुकदेव लौट आए। जनक ने पूछा कहिये नगर में क्या २ देखा ? कहा कुछ नहीं। क्या २ सुना ? उत्तर दिया कुछ नहीं। मेरा ध्यान तो केवल कटोरे और तैल के अन्दर रहा। इसी प्रकार एक ध्यानी पुरुष देखता है, सुनता है किन्तु मन इसका इन्द्रियों से परे रहता है। जिसने मनको जीत लिया है उसने सारे जगत को जीत लिया है। जो अपने मनका स्वामी है वह सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी है। यह मन मारा हुआ वह रसायन बन जाता है जिससे सर्व दुःख छूट जाते हैं और सदैव के आनन्द का द्वार खुल जाता है।

ज्ञान-मार्ग

अज्ञान की अवस्था

१०७-दूसरा मार्ग अज्ञान दूर करके ज्ञान का प्राप्त करना है। जीव अज्ञान के जाल में फंसा हुआ दुःख उठाता है। किसी वस्तु अथवा अवस्था को अशुद्ध अथवा उलटा समझना अज्ञान कहलाता है। पशुओं के अन्दर इसके प्रसिद्ध उदाहरण पाये जाते हैं। पशुओं में गधे के अन्दर बड़ा अज्ञान पाया जाता है। जब एक गधा पङ्क में फंस जाता है उसे ऊपर निकालने का यत्न करो वह अपना सारा बल नीचे की ओर लगाता है। भेड़िया उसकी ओर आता है वह नेत्र बन्द कर लेता है और विचार करता है कि भेड़िया भी उसे नहीं देखता।

शुक अत्यन्त प्रिय सरल पक्षी है। यह भी अज्ञान के वश होकर दुःख उठाता है। इसको पकड़ने का अद्भुत सा फन्दा है। एक दण्ड के अन्त के समीप धागा बांध कर उसे वृक्ष की शाखा से बांध दिया जाता है। ज्यूं ही तोता उस पर आकर बैठता है लम्बा भाग नीचे झुक जाता है। तोता दण्ड को अधिक बल से पकड़ता है, वह और नीचे हो जाता है। वह इसे और दृढ़ता से पकड़ता है। एक विचार इसके मस्तिष्क में बैठ जाता है कि पंजा दृढ़ रखने से उसका जीवन बचेगा। इसी दशा में फन्दक जाकर सुगमता से उसे पकड़ लेता है।

मनुष्य भ्रमजाल में फंस जाता है।

१०८–मनुष्य की भी वैसी ही दशा है। पद २ पर ऐसी अवस्थायें आती हैं कि उसे अज्ञान में डाल देती हैं। एक पथिक का दृष्टान्त है, उसे किसी सरोवर के अन्दर मणि चमकती हुई दृष्टिगोचर हुई। जल निर्मल था। उसने वस्त्र उतार दिये और मणि को निकालने के लिये डुबकियां लगाने लगा। आंखों से देखता था परन्तु उसके हाथ में पकड़ी न जाती थी। थक कर भूमि पर लेट गया। एक और महात्मा पुरुष वहां पहुंचे उसका वृत्तान्त पूछा। उन्होंने उससे कहा, वृक्ष के ऊपर देखो। शिखर पर एक पक्षी बैठा था जिसके मुख में मणि थी। मणि की चमक जल में पड़ती थी जिसने पथिक को विस्मित कर रखा था।

पुराण में एक कथा है। एक ऋषि था। उसे किसी पाप के लिये सूअरनी की योनि भोगने की आज्ञा हुई। वह सूअरनी बनकर उत्पन्न हुआ। गुहा में रहने लगी। बड़ी हुई। उसके बच्चे हुए। कन्दुक्रीड़ा बच्चों को कराती और उनसे प्रेम रखती थी। जब उसका समय समाप्त हुआ तो वैकुण्ठ से विमान पहुंचे कि उसे ले आयें। सूअरनी अपने मकान, अपने बच्चों और भोजन की ओर देख २ रोती थी और प्रार्थना करती थी कि उसे अल्पकाल के लिये बच्चों के पास और रहने दिया जाये। अपने शरीर के साथ, जहां पर वह निवास करती थी, इन स्थानों के साथ उसे इतना प्रेम होगया था, रोती चिल्लाती को

उन्हों ने पकड़ लिया और बैकुण्ठधाम को ले गये। वह ऋषि अपनी उस दशा पर पीछे क्या कहता होगा।

हमरी तृष्णा हमारे अज्ञान का कारण है।

१०६–भर्तृ ने कहा है काल नहीं व्यतीत होता, हम व्यतीत होजाते हैं। भोग नहीं भोगे जाते, हम भोगे जाते हैं। तृष्णा समाप्त नहीं होती, हम समाप्त होते जाते हैं। गीता में बताया है कि यह तृष्णा है, यह वासना है जो कि हमारे सब अज्ञान का मूल कारण है। यह हमारे आत्मा पर परदा डाल देती है। हमारी तृष्णा की कभी तृप्ती नहीं हो सकती, जैसे मरुस्थल में चलता हुआ पथिक बालू को जल समझ कर दौड़ता है ताकि अपनी प्यास को शान्त करे। समीप जाता है उसे बालू प्रतीत होती है। आगे अर्ध क्रोश पर जल दृष्टिगोचर होता है पुनः दौड़ना आरम्भ करता है। अग्नि में घृत डालने से अग्नि वेग से प्रज्वलित होती है। तृष्णा की अग्नि में भोग डालने से यह और अधिक चमकती है। जितनी अग्नि भड़कती है उनता दुःख बढ़ता है।

फिलौस्फर शायनहावर ने बहुत संक्षिप्त रीति से इसे एक राशिभाग में प्रकट किया है। जिस का लव भोग हैं और छेद भोगों की इच्छा। लव अधिक और छेद न्यून होने से सुख बढ़ता है। इस के विपरीत कार्य होने से दुःख। वह बताता है कि हमारे भोग तो Arithmetical progressionको रीतिपर बढ़तेहैं। दोको दोसे गुण, फिर

चार को दो से गुण फिर आठ को दो से गुण इत्यदि Arthmetical progression कहा जाता है। और हमारी वासनायें Geometrical progression की रीति से। दो गुण दो, फिर चार गुण चार, फिर सोलह गुण सोलह इत्यदि Geometrical progression कहलाता है। अभिप्राय यह, कि ज्यूं २ हम भोग भोगते हैं हमारी वासनायें बहुत गुणा बढ़ जाती हैं। इस लिये स्वभावतः हमारे दुःख का परिमाण बहुत बढ़ता जाता है। कारलायल ने इस राशिभाग से एक और गंभीर अर्थ निकाले हैं। गणित में यह विधि है कि लव कुछ ही हो, यदि किसी राशिभाग के छेद को शून्य कर दिया जाये तो उसका मूल्य अमित हो जाता है। इस राशिभाग में छेद को शून्य कर दो अर्थात् तृष्णा को सर्वथा मारदो तो सुख अनन्त हो जाएगा।

११०–आवश्यकताओं को न्यून करना क्या अशुद्ध सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त पर बड़ा आक्षेप किया जा सकता है कि आवश्यकताओं को न्यून कर देना एक अशुद्ध सिद्धान्त है। इस से मनुष्य आलस्यशील हो जाता है। आर्य्यों ने इस फिलौस्फी के कारण उन्नति न की। विपरीत इस के आवश्यकताओं की संख्या बढ़ने से आनन्द का परिमाण बढ़ता है। विस्तार होना चाहिये न कि संकुचन रेलवे स्टेशन पर पञ्जाब के शीत ऋतु में प्रातःकाल एक निर्धन पथिक बैठा था। उस के शरीर पर कोई वस्त्र न था। शीत लगता था और वह अपने शरीर को सकुंचित करता था। एक भाई ने उस की ओर इशारा करके कहा कि यह आवश्यकताओंके सम्बंध Contraction theory

(आकुंचन सिद्धान्त) अर्थात् आवश्यकताओं को सुकेड़ने के सिद्धान्त को प्रकट करता है। निस्सन्देह संसारिक उन्नति के लिये आवश्यकताओं का विस्तार आवश्यक है। जो समाज आवश्यकतायें त्याग दे तो वह आगे उन्नति नहीं कर सकती। परन्तु यह अशुद्ध है कि इस फिलौस्फी ने आर्यों की उन्नति को रोक दिया परन्तु इस फिलौस्फी का आर्यात्मिक प्रचार उसी समय था जब कि आर्यजाति उन्नति के शिखर पर थी। उन के गिरने के और प्राकृतिक कारण हैं।

संसार के लोगों का भौतिक उन्नति करने की ओर प्राकृतिक प्रवृत्ति रहती है। यहां तक कि यही भौतिक उन्नति ही मनुष्य को अधोगति को प्राप्त कराती है। लोगों को यह उपदेश करने की आवश्यकता नहीं कि वे अपनी वासनाओं को बढ़ा कर भोगों को बढ़ावें। ऐसा करने पर प्रत्येक पुरुष का वैसा ही चित करता है जैसे जल सदैव नीचे की ओर बहता है। फिलौस्फी का काम यह है कि लोगों को वास्तविकता का ज्ञान बताए। उस के सुनने और समझने और उस पर कार्य करने के लिये कोई ही उद्यत होता है। इस बात को अनुभव करना कठिन है कि अज्ञान में रह कर मनुष्य दुःख के गढ़े में पड़ा रहता है। यह अनुभव होने के उपरान्त मनुष्य इस अवस्था को परिवर्तित करना चाहता है। तब वह मार्ग अन्वेषण करता है और चाहता है कि उसे कोई पथप्रदर्शक मिले। अध्याय ४ का ३३, ३४ श्लोक बताता है ज्ञान के लिये गुरु का अन्वेषण करके, उसकी सेवा करके उससे प्राप्त करो।

वही इसके आवश्यक साधन और तप बताएगा जिनके विना ज्ञान का मिलना कठिन है।

ज्ञान प्राप्त करने के लिये पहिले अधिकारी बनना आवश्यक है।

१११–गुरु के लिये पहिले देखना होता है कि शिष्य कितना ज्ञान का पात्र है। आर्यशास्त्रों में अधिकारी के सिद्धान्त पर बहुत बल दिया है। जब एक जिज्ञासु गुरु के पास जाता है वह उसे कोई विशेष तप करने को कह देता था। छः मास अथवा वर्ष के पश्चात् फिर आने को कह देता था जिस से यह विदित हो जाये कि वह वस्तुतः ज्ञानका अधिकारी है, और साथही तप द्वारा उस की दूसरी वासनाओं को दबाना भी अभिप्रेत होता था।

गीता के अध्याय ३ के २६, २७, २९ श्लोकों में कहा है कि मूर्ख को ज्ञान कदापि न बताना चाहिये। संसार के साथ उसका प्रेम हिला देने से परिणाम अच्छा न होगा। इस पर आक्षेप किया जा सकता है कि यह तो एकप्रकार का अनृत है और लोगों को धोखा देना है आक्षेप करने वाले भूल करते हैं, वे नहीं समझते कि मूर्ख वह है जिस के मन में ज्ञान की इच्छा उत्पन्न न हुई हो। जिसे इच्छा ही नहीं उसे ज्ञान की बात बताना गर्दभ के आगे मोती बखेरना है। न वह समझेगा न मान करेगा। कदाचित् उसे अशुद्ध समझ कर उस का उलटा प्रयोग करेगा। देश

नवीन वेदान्ती साधुओं से भरा है जोकि पाप के पङ्क में फंसे हैं। ऊंची २ बातें बना कर दूसरे गृहों को उजाड़ते हैं, और अपना और दूसरों का नाश कर रहे हैं। संसारिक लोग व्यवहार धर्म का आश्रय ले कर सागर से इस प्रकार पार होते हैं जैसे तैरना न जानने वाला पुरुष एक तखता पर बैठा हुआ नदी पार होने का यत्न करता है। यदि तैरने की विद्या पर व्याख्यान दे कर उस का तखता फेंकवा दिया जाए तो गोते खाकर डूबना ही उस केलिये रह जाता है।

बुद्धि इच्छानुसार हुआ करती है।

११२–साधारण और सरल बातें मनुष्यों को भली प्रतीत होती हैं। किस्से, उपन्यास इत्यादि अनगिणित बिकते हैं। गूढ़ विषय पर व्याख्यान हो लोग शनैः २ उठना आरम्भ कर देते हैं। विचार वाली पुस्तक हो किसी का पढ़ने पर चित न करेगा। व्याख्यान में बैठे हुए बालक केवल इसी बात की प्रतीक्षा में रहते हैं कि कब तालयां पिटेंगी या कथा में प्रसाद कब मिलेगा। एक नवयुवक विद्यार्थी के सम्मुख गर्भाधान के विषय पर व्याख्यान देना उस को बिगाड़ना है। जैसा कि बालकों के सम्मुख विवाह का वर्णन करके विवाह की इच्छा उत्पन्न करना उनको कुमार्ग पर ले जाना है।

यह संसार एक नाटक का तमाशा है जिस में बच्चे तो गाजे बाजें का शब्द सुन कर मग्न हो जाते हैं। बड़े वस्त्र और मुख के सौन्दर्य्य पर, कोई राग पर, कोई विद्या पर,

कदाचित कोई ही व्यक्ति होता है जोकि इस से नयोपदेश को ग्रहण करता है।

जैसे एक अल्पआयु का बालक विषय भोग के आनन्द को नहीं समझ सकता या स्कूल का विद्यार्थी उच्च पढ़ाई पुस्तकों को नहीं समझ सकता ऐसे ही मूढ़ के लिये ज्ञान की बात समझना कठिन है। पहिले बात समझने के लिये रुचि का होना आवश्यक है। साधारण पुरुषों की रुचि केवल किसी न किसी आशय से होती है। उदाहरणतया शिक्षा प्रणाली को देखें। हमारी विद्याप्रणाली ऐसी बनाई गई है कि सब कुछ विदेशी भाषा द्वारा सिखाया जाता है। बहुत सी संख्या देश प्रेमियों की इसी प्रणाली से हो कर निकली है। इन का मान और आय इन की विद्या पर निर्भर है। स्वार्थ ने इन के मन में ऐसा परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है कि इनको कितना ही बताओ यह सीधी साधी बात मस्तिष्क में बैठ नहीं सकती कि मातृ भाषा को त्याग कर विदेशी भाषा में विद्या की विस्तृति प्रकृति के विरुद्ध है। संसार के किसी देश में ऐसा नहीं होता। एक कथन है, "इच्छा विचार की माता होती है।"

ज्ञान को प्राप्त करने की रीति।

११३–पांच अध्याय का २६ वां श्लोक कहता है कि वही योगी जिन्हों ने तृष्णा को मार कर मन को वश किया है ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो सकते हैं। इस मन को वश करने की एक रीति तो राजयोग है दूसरे केवल ज्ञान मात्र से

किस प्रकार इस पर वश हो सकता है। अष्टावक्र के दृष्टान्त से प्रकट होता है। जनक राजा को यह इच्छा हुई कि इसे कोई ऐसा गुरु मिले जो क्षण भर में ज्ञान का मार्ग दर्शावे। भरी सभा में कोई पुरुष इस योग्य न हुआ। अष्टावक्र यह सुन कर वहां आ पहुंचे। उन के टेढ़े शरीर को देखकर सभा के लोग हंस पड़े जिस पर अष्टावक्र ने कहा, क्या यह चमारों की सभा है? यह पुरुष चर्म को भली प्रकार परखना जानते हैं। लज्जा से सब पुरुष चुप हो गए। अष्टावक्र से वही प्रश्न किया गया। उस ने कहा पहिले कुछ गुरुदक्षिणा मिलने पर ज्ञान बताया जायेगा। जनक ने कोष और राज की ओर ध्यान किया। अष्टावक्र ने कहा इस में तुम्हारा क्या है? तुम से पूर्व इन के कई स्वामी हो चुके हैं। उस ने अपने बाल बच्चों की ओर इशारा किया। उस पर अष्टावक्र ने कहा वे सब अपनी २ आत्मा रखते हैं। वे तुम्हारे कैसे हो सकते हैं? जनक ने कहा मेरा मन है, यह आप के अर्पण है। यह सुन कर अष्टावक्र वहां से चल दिया। जनक को बड़ा क्रोध हुआ कि यह क्या, कुछ बताया ही नहीं और चल दिया। विचार किया, विचार आया क्रोध तो मन में उत्पन्न होता है। मन तो मैं दे चुका हूं। फिर वहां से जाने का विचार किया। मन के बिना जाए कैसे? इसी प्रकार वहां खड़े ही विचार में पड़ा रहा और ज्ञान को प्राप्त किया।

ज्ञान का आनन्द वाणी में नहीं आ सकता।

११४–गीता का दूसरा अध्याय आत्मिक ज्ञानका समुद्र है। इसके ७० वें श्लोक में कहा है कि ज्ञानी का मन समुद्र के तल की नाईं शांत हो जाता है। समुद्र में नदियां पड़ती हैं। तूफान आते हैं परन्तु तल वैसे का वैसे अचल और शान्त रहता है। अध्याय पांच के २४, २५ श्लोकों में बताया है कि जो योगी अपने आभ्यन्तरिक आनन्द को पा लेता है, वह इस जन्म के अन्दर ही मुक्ति के आनन्द को प्राप्त कर लेता है और इस जन्म में जनक की नाईं जीवम मुक्त होजाता है। यह आनन्द वाणी या लेख का विषय नहीं है। यह केवल अनुभव हो सकता है। इसको वही अनुभव करता है जो अनुभव की शक्ति रखता है। उपनिषद् में इतना कहा है कि उसके हृदय की गांठें खुल जाती हैं। उसके सन्शय मिट जाते हैं। उसके सर्व कर्म नाश हो जाते हैं। वह आत्मा के स्वरूप को देखता है। ७ अध्याय के दूसरे श्लोक में कहा है "यह वह ज्ञान है जिसके जानने से और कुछ जानना शेष नहीं रहजाता।"

लोग पूछते हैं कि ऐसे ज्ञान से क्या लाभ होगा? इस से क्या सुख मिलेगा? ऐसा ही जैसा कि बालक पूछता है कि यदि मैं विद्या गृहण करूंगा तो क्या उससे मुझे खिलौने मिलेंगे? अथवा जैसे कोई मूर्ख पूछे कि अमुक आविष्कार होने से क्या हमें मिठाई मिलेगी? अध्याय ५ के १६ वें श्लोक में बताया है कि यह ज्ञान ज्ञानी के हृदय को सूर्य्य की तरह प्रकाशित कर देता है। जिस

मनुष्य ने पर्वत के ऊंचे शिखर पर चढ़कर देखा है उसे ज्ञात है कि वहां जाकर कैसे सारा मेघ मण्डल पाओं के तले प्रतीत होते हैं। नीचे वर्षा होने पर भी किस प्रकार सूर्य्य उसके शिखर पर चमकता दिखाई देता है। ऐसे ही संसार के सारे मेघ ज्ञानी के पाओं के नीचे रह जाते हैं और सदा ज्ञान का सूर्य्य उस पर अपनी चमक डालता है।

१५५-शरीर रखता हुआ ही वह ऐसा जीवन मुक्त हो जाता है जैसा कमल का पत्ता जल में रहता हुआ जल से पृथक् रहता है। ऐसे ही वह संसार में रहता हुआ उससे पृथक् रहता है। जैसे एक पतिव्रता स्त्री गृह का सब कार्य करती है परन्तु उसका चित प्रत्येक समय अपने पति के प्रेम में मग्न रहता है। राजा जनक के जीवनमुक्त होने का दृष्टान्त दिया जाता है। गीता में भी जनक को जीवन-मुक्त का नमूना वर्णन किया है।

एक साधु था। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि जनक राज पाट करता है और सुख से रहता है। वह क्योंकर जीवन-मुक्त हो सकता है। उसने जाकर अपना सन्शय जनक के सन्मुख उपस्थित किया कि आपको लोग जीवन-मुक्त क्यों कहते हैं? जनक ने राजगृह के अन्दर उसे स्थान दे दिया। रहते २ अकस्मात् एक दिन थोड़ी दूरी पर अग्नि लग गई। सपाही दौड़े आए। जनक को सूचना दी, उसने शान्त करने की आज्ञा दी। फिर सूचना आई कि अग्नि बढ़ती हुई राजगृह के पास आ रही है। सुनते ही साधु उठा। जनक ने उसे बुलाया और पूछा किधर दोड़ते हो।

साधु ने कहा मेरी लंगोटी और लोटा पड़ा है, उसको लेने जाता हूं। इस पर जनक ने साधु को समझाया कि यद्यपि वह साधु था और उसने सब त्याग किया था, किन्तु उस का मन लंगोटी के अन्दर फंसा है जिससे उसे इतनी घबराहट उत्पन्न होगई थी।

भक्ति-मार्ग।

साधारण पुरुषों का मार्ग भक्ति का है।

११६-अध्याय १२ के ६, ७, ८, १४ आदि श्लोकों में और १८ अध्याय के ६५, ६६ में और अन्य कई स्थलों पर बारम्बार कहा गया है "तुम मेरी शरण आओ। मेरा प्रेम ऐसा है कि मेरी शरण पकड़ने से तुम सब आपत्तियों से बच जाओगे"।

ध्यान और ज्ञान के दो मार्ग बहुत थोड़े मनुष्यों के लिये हैं। भक्ति और कर्म मार्ग साधारण पुरुषों के लिये हैं। इन दोनों मार्गों पर चलना अधिक सुगम है। भक्ति और प्रेम का अन्श स्वभावतः प्रत्येक मनुष्य के अन्दर पाया जाता है। प्रेम स्वार्थ के विरुद्ध दूसरी ओर चलता है। जूं २ प्रेम बढ़ता है तूं २ मनुष्य संसारिक स्वार्थता को भूलता जाता है। जब किसी पुरुष में यह भाव सीमा पर पहुंच जाता है तो उसके लिये शेष संसार की कोई सत्ता ही नहीं रहती। प्रायः मनुष्य में यह सात्विक भाव के रूप में पाया जाता है। विचार से, संगत के प्रभाव से, उसका रूप भक्ति और आत्मिक प्रेम में परिवर्तित होजाता है।

तुलसीदास, सूरदास आदि के उदाहरण देखिये, बहुत नवयुवा कन्यायें इस प्रकार साधुनी बन जाती हैं। मजनूं का किस्सा सब मनुष्य जानते हैं। कहते हैं कि वह लेली के ऊएट के पीछे २ जा रहा था। वायु से लेली का वस्त्र

हिला। वह इसे ठैर जाने का चिन्ह समझा और वहीं खड़ा होगया। वह वहीं भूखा प्यासा खड़ा रहा। केवल हड्डियां उसके शरीर में रह गईं। इर्द गिर्द घास बढ़ जाने से उसका सब शरीर ढप गया। केवल लेली को स्मरण करता था। उसे कुछ दिखाई न देता था। एक कवित्त में उसके प्रेम को यहां तक प्रकट किया है कि जब उसे कहा गया कि चलो तुमको अल्लाह (परमात्मा) बुलाता है। उसका उत्तर स्पष्ट था "अगर अल्लाह को मिलना हो, तो लेली बन के आजावें"।

नेता से प्रेम भक्ति का उदाहरण है।

११७–भक्ति का एक रूप साधारण सभाओं, समाजों तथा धार्म्मिक संस्थाओं और पार्टी Orgauisation में पाया जाता है। ९९ प्रति शत पुरुष ऐसे मिलते हैं जो कि अपने नेता पर इतना विश्वास और उससे इतना प्रेम रखते हैं कि उसके लिये सब कुछ करने पर उद्यत हो जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार विशेष पुरुष को अपना नेता मान लेता है। उसके कार्य को स्वकार्य्य, उसके आदर्श को अपना आदर्श और उसकी सम्मति को अपनी सम्मति बना लेता है। दूसरे शब्दों में इसके यह अर्थ हैं कि साधारण मनुष्य अपने नेताकी सत्तामें अपनी सत्ताको भुला देता है। साधारण मनुष्य में इस प्रकार का भाव प्रशंसनीय है। परन्तु आर्यावर्तमें कई चतुर मनुष्योंने धार्म्मिकतया इसका अत्यन्त छाद्रिक प्रयोग कियाहै। एक जनसमुदाय

का अपना भक्त बना कर इन के अन्दर मानसिक दासत्व उत्पन्न कर देना नीच कर्म है। एक समय तो कहना कि ईश्वर मेरा मित्र है और मैं उस से प्रति दिन बातें करता हूं। इस लिये मेरा कथन तुम को अक्षरशः मानना आवश्यक है। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर एक नया तमाशा, "ईश्वर की तो संसार में कोई सत्ता नहीं, मैं ही ईश्वर हूं, मैं ही भगवान हूँ, तुम मेरी ही पूजा किया करो।"

हरिवर्ष तथा अफ्रीका की समाज ऐसे मूर्खोंसे नहीं बनीहै कि उस में ऐसे पाखंड चल सकें। न ही ऐसी गिरी हुई है कि इस में ऐसे नीच कर्म मनुष्य उत्पन्न हों। वहां के नेता अपनी २ संस्था के हितैषी हैं। इन को जागृत और चैतन्य रखना चाहते हैं। इन के अनुकरण करने वालों का यही बड़ा त्याग है कि अपने नेताओं की भक्ति और प्रेम में निःस्वार्थता स्थापित करते हैं।

परमात्मा उन से प्रेम करता है जो उसकी प्रजा से प्रेम करते हैं।

११८–मेज़नी का विचार है कि भविष्य काल का धर्म दयालुता होगा जिस का उद्देश इसी बात का प्रचार होगा कि परमात्मा की प्रजा से प्रेम करो। दूसरों के सुख और रक्षा में अपना सुख तथा रक्षा समझो। परमात्मा तुम से यह नहीं पूछेगा कि तुम ने मेरे लिये क्या किया किन्तु यह कि तुम ने अपने भाइयों के लिये क्या किया? दूसरों के उपकार में काम करो, यही सर्वोत्तम पूजा है।

अब्बुबिनादम का वृत्तान्त है कि वह दिन रात्रि अपना काल मनुष्य की सेवा में व्यतीत करता था। एक रात्रि उसे दैवदूत दृष्टिगोचर हुआ। उस के कर में सूचीपत्र था। पश्न करने पर दैवदूत ने बताया यह उन पुरुषों के नाम हैं जोकि ईश्वर से प्रेम करते हैं। अब्बु ने पूछा, क्या मेरा नाम इस में है? उत्तर मिला, नहीं। वह कुछ बड़ा विस्मित हुआ कि यह क्या? मेरा काम तो परमात्मा की प्रजा की सेवा करना है और मेरा नाम अभी सूचीपत्र में लिखा नहीं गया। फिर एक रात्रि वही दैवदूत इसे दृष्टिगोचर हुआ। अब एक और सूचीपत्र था। पूछा, यह किन पुरुषों का है? उत्तर दिया कि यह उनका है जिनसे परमात्मा प्रेम करता है। देखा, तो अब्बु का नाम सब से शिखर पर था।

गीता के अध्याय ६ के ३० श्लोक में कहा है "कि जो मेरे अन्दर सब प्राणी और मुझ को सब प्राणियों में देखता है वह मुझ से कभी पृथक् नहीं होता। जिस का किसी से द्वेष नहीं वह सच्चा भक्त है।"

———:o:———

पूजा के वास्तविक अर्थ क्या हैं?

११६–साधारण धर्मों के पुरुष परमात्मा का ऊपर आकाश में एक अस्तित्व कल्पित करके उसकी स्तुति करते हैं। उस से अपने लिये प्रार्थनायें करते हैं। न वह उन स्तुतियों से प्रसन्न होता है; न उसे इन की आवश्यकता है और न वह मांगने से कुछ देता है।

परमात्मा की भक्ति के तीन पद हैं। स्तुति, प्रार्थना और उपासना। जैसे हम एक सुन्दर गृह अथवा किसी अद्भुत शक्ति वाले मनुष्य को देख कर विस्मित होते हैं और हमारे मन में उन के लिये प्रशंसा उत्पन्न होती है, वैसा ही परमात्मा को समस्त ब्रह्माण्ड के अन्दर काम करता हुआ देख कर हमारे हृदय में स्तुति का भाव उत्पन्न होता है। यथा किसी आश्चर्य गुण को देख हमारे हृदय में उस गुण के प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। परमात्मा को और जानने की इच्छा का नाम प्रार्थना है। "हमारी बुद्धि तीव्र हो। हम तुम्हें और अधिक जान सकें।" यही सच्ची प्रार्थना है। जैसा एक बालक दिन प्रतिदिन स्वाध्याय करता हुआ ज्ञान प्राप्ति करता है और वह अपने गुरु के निकट होता जाता है। इसे उपासना कहते हैं। ऐसे ज्ञान तथा बुद्धि होने से हमारी परमात्मा से निकटता अर्थात् उपासना होती है। हम उस शक्ति को ब्रह्माण्ड में देखते हैं जिस को कि अपने अन्दर काम करता पाते हैं। इस सच्ची उपासना से हमें सब प्राणियों के अन्दर परमात्मा की शक्ति दृष्टिगोचर होती है। परमात्मा की संगत में हम उस लोहे के समान हैं जो चुम्बक के संग लगने से चुम्बक हो जाता है। "कोई वृक्ष जो चन्दन के समीप होता है चन्दन हो जाता है।" एक कवि ने कहा है "बिना बांस के, क्योंकि यह अभिमानी सीधा ऊंचा जाता है और अंतःशून्य होता है।" लवण के खानी में कोई वस्तु पड़े वह लवण रूप हो जाती है। यह भक्ति वह पवित्रता है जिस के छूने से पाषाण सुवर्ण हो जाता है।

अध्याय ४ के ३६ श्लोक में कहा है "इस को प्राप्त कर के, कितना ही पापी क्यों न हो पाप के समुद्र में तर जाता है"।

—:o:—

भक्ति के लिये मूर्त्ति की आवश्यकता नहीं।

१२०—अध्याय ७ का २१,२३ श्लोक कहता है "जो २ जिस २ देवता को पूजता है मैं उस में उसकी श्रद्धा पूर्ण करता हूं। वह उस देवता से फल प्राप्त करता है। वास्तव में फल देने वाला मैं हूं। अल्प बुद्धि वाले मनुष्य इन देवताओं की पूजा करते हुए इन को पहुंचते हैं। मेरे भक्त मुझ को पाते हैं।" अल्प बुद्धि मनुष्य इस श्लोक में मूर्त्ति पूजा की सिद्धि निकालते हैं। देव शब्द का अर्थ आगे किया गया है। गीता में देवता से अभिप्राय ज्ञान, विद्या, वीरता आदि गुण हैं, जैसा कि ४ अध्याय के १२ वें श्लोक से प्रकट होता है। "मेरे" से तात्पर्य आत्मा है। जिन अर्थों में मूर्त्ति पूजा आज कल समझी जाती है गीता में उसका स्वप्न मात्र भी नहीं मिलता। कल्पना कीजिये कि हम एक मूर्त्ति को सामने रखते हैं। यदि उस मूर्त्ति के अन्दर कोई गुण हमें दिखाई नहीं देता और न हम को किसी गुण का ज्ञान है जो कि उस में पाया जाता है जिसकी यह मूर्त्ति है, तो उस मूर्त्ति से भक्ति का भाव किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है। यदि हम किसी देवता के गुणों का ठीक ज्ञान रखते हैं तो उस की मूर्त्ति बना कर सामने रखना अथवा न रखना समान है। इस का कोई लाभ प्रतीत नहीं होता।

अध्याय ९ के २६,२९ में कहा है कि "यदि कोई एक पत्ता भी प्रेम से मेरी भेंट करता है तो मैं आनन्द पूर्वक लेता हूं। यूं तो सब ही मुझे प्रिय हैं परन्तु जो मुझे प्रेम करता है वह मेरे में मिल जाता है। मैं उस में होता हूं और वह मुझ में।"

—:o:—

आत्मा का विस्तार ही प्रेम का मूल है।

१२१–वस्तुतः प्रेम क्या है? ऐतरेय उपनिषद् में बड़ी सुन्दरता से इस बात को वर्णित किया है। ऋषि पूछते हैं माता को पुत्र क्यों प्रिय है? पुत्र को माता क्यों प्रिय? स्त्री को पति क्यों प्रिय है? पति को स्त्री क्यों प्रिय है? आगे उत्तर देते हैं। कि पुत्र पुत्र के लिये प्रिय नहीं पत्युत आत्मा के लिये। स्त्री स्त्री के लिये प्रिय नहीं है किन्तु आत्मा के लिये। संसार में माता, स्त्री, पुत्र, पिता तो असंख्य हैं। हम एक को इस लिये प्रेम करते हैं कि हमारी आत्मा का इससे संबंध है। कोई पुरुष दूसरे को उसकी सेवा, प्रेम नहीं करता परन्तु अपनी आत्मा को फैलाकर उस आत्मा को उसके अन्दर निरूपन करता है। अपनी आत्मा को वहां पाकर उसे आनन्द प्राप्त होता है और वह उस आनन्द में मग्न हो जाता है शुक्तिका वालु का अणु अपने अन्दर प्रविष्ट करती है जैसे माता वीर्य को धारण करती है। उस अणु के गिर्द अपने आत्मा को लपेटना आरम्भ करती है और इससे उसको मोती बना लेती है। इसी प्रकार मनुष्य जिसे प्रेम करता है उसे अपने अन्दर लेकर अपनत्व को उसके गिर्द

लपेट लेता है और उसे अपना बना देता है। यही उसका प्रेम है। जब वह अपनी आत्मा को दूसरी सत्ता में लीण कर देता है तो उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है। ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को इतना फैलाते हैं कि समाज, जाति, मनुष्य प्रत्युत प्राणीमात्र में वे अपने आपको ही विचार करते हैं। यदि उसमें भी अहंभाव का अन्श कुछ हो तो स्मरण रखना चाहिये कि वह इतना विस्तृत हुआ २ है कि उसकी सत्ता और असत्ता समान हैं।

अध्याय १२ के ६, ७ श्लोक में कहा है, "हे अर्जुन तुम मन, बुद्धि और कर्म से सब कुछ मेरे अर्पण करदो।" १८ अध्याय के ६५, ६६ में कहा है हे अर्जुन सब धर्मों को छोड़। मेरी शरण में आ जा। मुझपर आशा रख। मेरे पाओं पर पड़। मेरा भक्त बन जा, मैं तुम्हें कहता हूं कि तू ऐसा करेगा क्योंकि तू मेरा प्रिय है।"

इन श्लोकों को पढ़ता हुआ मनुष्य एक बार अपने अस्तित्व को भूल कर गीता के अन्दर निमग्न हो जाता है और प्रेम में मग्न हुआ २ उन्मत बोल उठता है, मैं धन नहीं चाहता, न सुख की कोई इच्छा है, न मुक्ति लेने पर चित करता है, केवल आपके प्रेम अमृत का ही प्यासा हूं।

१२२–जूं २ यह प्रेम बढ़ता है विश्वास उत्पन्न होता है। परमार्थ आता है, स्वार्थ मरता जाता है। भक्त अपने इष्टदेव की भक्ति में अपने आपको खो देता है। इस विश्वास के अन्दर एक बल उत्पन्न होजाता है जिसका संसार में सामना नहीं हो सकता।

एक जाटकन्याका दृष्टान्त है। वह अपने पिता के लिये

भोजन शिरपर उठाए जातीथी। मार्गमें नदीथी। उसने राम का नाम लिया और नदी से पार होकर चली गई। राम का एक उपासक वहां प्रतिदिन भक्ति किया करता था। उसके चित में बड़ा क्रोध आया और रामके आश्रय नदीमें पार होने का संकल्प किया। जब नदी में पाओं रखा तो उसे भय हुआ कि कहीं डूब न जाऊं। बाहिर आकर एक बड़ा मोटा रज्जु वृक्ष से बांधा और अपने मध्य में लटका कर अन्दर प्रविष्ट हुआ। थोड़ी दूर गया कि गोते आने लगे। तब राम को गालियां देनी आरम्भ कीं। राम ने दर्शन दिये और पूछा क्यों भाई! क्यों कोप करते हो। बोला आयु पर्यन्त तुम्हारी भक्ति करता रहा और मुझ में जाट कन्या के समान भी शक्ति उत्पन्न नहीं हुई। राम ने कहा तुम्हारा प्रेम और विश्वास मेरी अपेक्षा रज्जु में अधिक है, मैं तुम्हारे लिये क्या कर सकता हूं।

इसी प्रकार उस हरिणी की प्रसिद्ध कथा है जो कि अपने छोटे बच्चे समेत एक व्याध ने घेर ली। एक ओर अग्नि, दूसरी ओर कुत्ते और बाड़ और स्वयं बन्दूक लेकर बैठ गया। ईश्वर के बिना उसे कोई उपाय दृष्टिगत न हुआ "तव विनय करे मृगनारी संकट काटो मुरारी।" दैवयोग से आंधी चल पड़ी सब बाड़ भस्मीभूत होगई। एक सर्प निकला उसने व्याध को डस लिया। कहा है जो उसके भक्त होते हैं उनको अपने हाथ उठा लेता है और उनकी रक्षा करता है।

कर्म-चर्चा ।

कर्म विना सब कुछ निरर्थक है ।

१२३–कहते हैं कि एक नौका में तीन विद्वान् पुरुष जा रहे थे । उन में से प्रत्येक विभिन्न विद्या में निपुण था । एक राग जानता था, दूसरा ज्योतिश और तीसरा न्याय । सब अपने २ गुण की प्रशंसा कर रहे थे । रागी ने दूसरों से प्रश्न किया, क्या आपने राग का कुछ सीखा है या नहीं ? उत्तर मिला, नहीं । उस ने कहा तुम ने अपने जीवन का चौथा भाग यूं ही नष्ट किया । ज्योतिश वाले ने भी वही प्रश्न किया । जब उस को भी वैसा ही उत्तर मिला तो उस ने कहा कि तुम ने आधा जीवन यूं ही नष्ट किया । इसी प्रकार तीसरे ने प्रश्न किया और वही उत्तर मिलने पर उस ने कहा कि यदि तुम ने न्याय नहीं पढ़ा तो तुम ने तीन भाग जीवन के यूं ही नष्ट किये । इतने में आंधी सी चली और नौका डगमगाने लगी । नाविक बातें सुन रहा था । उस ने सब से पूछा कि क्या तुम ने तैरना भी सीखा है या नहीं ? सब ने उत्तर दिया नहीं । तब वह बोला तुम सब ने समस्त जीवन ही नष्ट किया । वही दशा कर्म की है । यदि हम कर्म करना नहीं सीखे तो शेष सीखा हुआ सब व्यर्थ हो जाता है ।

अध्याय ३ के ४, ५ आदि श्लोकों में कहा है बिना कर्म के कोई रह नहीं सकता, और बिना कर्म किये कोई भी कर्म के फंदे से निकल नहीं सकता। आगे २० श्लोक में कि जनक आदि कर्म करके ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

ज्ञान कर्म से मिला हुआ फल देता है।

१२४-कर्म और ज्ञान पर विवाद करते हुए प्रश्न उत्पन्न होता है कि दोनों में कौन उत्तम है? ५ अध्याय के ४, ५ श्लोक में उत्तर दिया है कि ज्ञान योग और योग वास्तव में दोनों एक ही हैं। मूर्ख उन्हें पृथक् २ समझते हैं। साधारण पुरुषों के लिये बिना कर्म के अकेला ज्ञान मार्ग पर चलना अति कठिन है।

एक राजा पर शत्रु ने आक्रमण किया उस का मंत्री शत्रु से मिल गया। उसको सकल राजपाट और स्त्री छोड़ कर दौड़ना पड़ा, यद्यपि उस को ज्ञान है कि उस की स्त्री और मित्रों ने उसे त्याग दिया है; परन्तु उस का हृदय उन की ओर लगा हुआ दुःख में पड़ा रहता था। कर्म और ज्ञान एक दूसरे के अन्दर मिला हुआ फल देता है जैसे चक्षुहीन लोहे को स्कन्ध पर उठाता है। तब ही वृक्ष से फल तोड़ कर दोनों खा सकते हैं। कर्म बिना ज्ञान के चक्षुहीन पुरुष का दृष्टान्त है और ज्ञान बिना कर्म लोहे के समान है।

एक पुरुष ने देव को वश कर लिया, देव ने यह शरत की कि जो कुछ तुम मांगोगे मैं दे दूंगा परन्तु मुझे प्रत्येक

समय कुछ न कुछ काम बताना होगा । यदि कार्य न बता-ओगे तो मैं तुम को भक्षण कर जाऊंगा । ऐसा ही हुआ । जब वह अपनी आवश्यकतायें पूर्ण करा चुका तो देव उस से और काम मांगता था । वह भयभीत हुआ दौड़ पड़ा । देव उस के पीछे जा रहा था । एक साधु उसे मिला और दौड़ने का कारण पूछा । साधु ने उसे प्रति क्रिया बता दी । एक दण्ड गाड़ दो और उस को ऊपर चढ़ने और नीचे उतरने के लिये आज्ञा दे दो । इस उपाय से उस का छुटकारा हुआ । हमारा मन भी उसी देव के समान है, यदि इसे कोई काम न बताओगे तो यह खाने को दौड़ेगा । कर्म-मार्ग ही उस के लिये दण्ड है- जिस के द्वारा उस से रक्षा होती है । गीता के अध्याय ३ में बताया है कि इन्द्रियों को बाहिर से रोक कर मन से विषयों का ध्यान करना धूर्तों का काम है । मनुष्य का स्वभाव ही इस से कर्म कराता है । ज्ञानियों को इस लिये भी कर्म करना आवश्यक है कि दूसरे पुरुष उन के आचरण का अनुकरण कहते हैं । कृष्ण कहता है यद्यपि संसार में मुझे कुछ भी करना शेष नहीं परन्तु मैं कर्म करता हूं ताकि साधारण पुरुष काम छोड़ कर अपने नाश का कारण न हों ।

कर्म के द्वारा कर्म का त्याग प्राप्त करना कर्म योग का रहस्य है ।

१२५-कर्म और त्याग का प्रश्न उठा कर अध्याय ५ के २ श्लोक में उत्तर दिया है, यद्यपि संन्यास (त्याग)

भी अच्छा है परन्तु कर्म मार्ग इस से उत्तम है कई पुरुष कर्म को पङ्क से उपमा देते हैं। क्योंकि जब कर्म करके अन्त में कर्म से मुक्ति प्राप्त करनी है तो कर्म करना पंक से हाथ खराब करना और फिर प्रक्षालन करना है इस का उत्तर यद्यपि अर्जुन सा प्रतीत होता है परन्तु सत्य है कि कर्म से मुक्ति कर्म द्वारा हो सकती है। अतः कर्म पंक के सदृश नहीं है। क्योंकि यह तो असम्भव है कि मनुष्य कर्म न करे। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। अब हमारा काम यह है कि इस स्वभाव का ऐसा प्रयोग करें कि कर्म के फंदे से निकल जायें। यही कर्म योग का सब से बड़ा रहस्य है।

मनुष्य एक बड़ी पेचीदा सी कल है। इस की तानी केवल एक स्वार्थ है। जो कार्य वह करता है सब का अन्तिम आधार स्वार्थ है। कर्म की नींव से इस स्वार्थ को दूर करना कर्म योग है। यद्यपि यह कठिन बात है परन्तु इस की रीति सरल है। पहिले तो केवल इतना जानना आवश्यक है कि कर्म वह करना चाहिये जिसमें दूसरों का भला हो। इस में कर्ता का अपना भला भी स्वयमेव होगा। शनैः २ स्वकीय वासना को न्यून कर के दूसरों की भलाई को उद्देश बना लेना चाहिये और कर्म इस विचार से करना चाहिये। जैसा कि गीता के अध्याय ३ के ११, १२ श्लोकों में कहा है "जैसे सब देवता, सूर्य्य, चन्द्र, पवन अपना २ काम कर के संसार को चलाते हैं ऐसे ही तुम भी दूसरों के लिये काम करो।" आगे १९ में कि "जो अज्ञानी वासना में बंधा हुआ करता है उसे ज्ञानी वासना

त्याग कर करे।" इस से मनुष्य शनैः २ अपने अहं-भाव को भूलना सीखता है। परोपकार के लिये काम करने में भी फल की इच्छा अवश्य रहती है। जब परोपकारी पुरुष के काम पर कटाक्ष होता है उसे दुःख होता है। बहुधः ऐसा होता है कि उन के वही लोग शत्रु हो जाते हैं जिन का वे भला करते हैं। इस पर एक भले पुरुष के विषय में कहा जाता है, उस को किसी ने आकर कहा कि अमुक पुरुष तुम को बहुत बुरा कहता है। वह विस्मया-कुल हुआ और कहने लगा "यह क्या? मैंने तो कभी इस का कल्याण नहीं किया।"

कर्म से फल की इच्छा निकाल देना त्याग की ओर ले जाता है।

१२६–गीता के अध्याय २ का ४७ श्लोक कहता है कि "तुम्हारा धर्म केवल काम करना है फल की इच्छा रखना नहीं।" यदि तुम सब काम परोपकार के लिये करते हो, क्या हुआ? यदि उसका फल अच्छा है अथवा बुरा। कर्म से दुःख तबही होता है जब उसके संग फलकी इच्छा सम्मिलत होती है। जैसे चित्रके टूटनेसे दुःख नहीं होता किन्तु अपना चित्रटूटने से दुःख होताहै। दक्षिणा की इच्छा रखकर भला करनाएकप्रकार की विक्रयशालाहै। अतःकर्म करनेका उद्देश संसारकीऐसी भलाई न होनी चाहिये जोकि मुझे दृष्टगोचर होसके परन्तु यह कि इस कर्म मेंऔर न इसकेफल में मेरी अपंनी उन्नति विद्यमान है। इस प्रकार से कर्म योग का वास्तविक आशय पूर्ण हो जाता है, और हमारी कठिनता

की व्याख्या होती है कि किस प्रकार मनुष्य काम करता हुआ कर्म से मुक्ति प्राप्त करता है। इसलिये गीता के चौथे अध्याय के १८ श्लोक में कूट प्रश्न में कहा है "वही पूर्ण ज्ञानी है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है अर्थात् निष्काम कर्म में त्याग और सुस्पष्ट त्याग में कर्म अथवा मन का फंसना समझता है।"

कर्म योग का रहस्य इस लिये निःस्वार्थता की शिक्षा देना मार्ग दर्शाना है। जब धर्म समझ कर कर्म करने का स्वभाव हो जाता है तो स्वार्थ अन्दर से आप ही नष्ट हो जाता है। इस स्वार्थ के नष्ट होजाने से मनुष्य ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने का भागी बन जाता है। कर्म योगी इस बात की चिन्ता नहीं करता कि संसार उसे क्या कहता है? उसको परिणाम का अच्छा अथवा बुरा होना सुख दुःख नहीं देता। स्तुति अथवा निन्दा उसे प्रसन्न अथवा अप्रसन्न नहीं कर सकती। वह संसार के सब काम इस प्रकार करता है जैसे धात्री बच्चों को क्रीड़ा कराती है। माता के सदृश प्रेम करती है परन्तु नौकरी हर जाने पर बिना किसी दुःख तथा कष्ट अपना मार्ग लेती है।

१२७—गीता में सब मार्गों का वर्णन है परन्तु कर्ममार्ग को ही सब से प्रधान माना है। अध्याय २ के ३९ श्लोक में कृष्ण कहता है, अभी लों तू ने ज्ञान योग सुना, इस के आगे तुम्हें कर्म योग बताता हूँ जिस का फल विवसाय अत्मिक-बुद्धि तुम्हें प्राप्त होगी। सकल गीता में स्थल २ पर कृष्ण अर्जुन को कर्म करने का उपदेश करता है। यदि सच्च पूछें तो गीता का अभिप्राय ही यह है कि अर्जुन के

हृदय से निर्बलता को दूर कर के उसे कर्म के लिये उद्यत करे।

अध्याय २ के ३१, ३२, ३३, ३४ श्लोकों में कर्म करने की युक्तियां दी हैं जिन का अनुमोदन ३८, ३९, ४०, ४१ में बलपूर्वक किया है। अध्याय ३ के २१, २२ इत्यादि में इसी पर बल दिया है। अन्त में १८ अध्याय के ७२ में सारे ज्ञान के विस्तार के उपरान्त कृष्ण पूछता है, "क्या अज्ञान से उत्पन्न हुआ तुम्हारा मोह दूर हुआ है वा नहीं?" जिस का उत्तर अर्जुन ७३ श्लोक में देता है "मेरा मोह दूर हो गया है। मुझे सत्य ज्ञान मिल गया है। अब मैं करूंगा जैसा तुम आज्ञा दोगे।" यह भाव है जिस पर कि सकल गीता हम को ले आती है।

उपनिषद् भी "निष्काम कर्म" पर बल देते हैं।

१२८–उपनिषदों में निष्काम कर्म पर बहुत बल दिया है। छान्दोग्य उपनिषद् में अलंकार के रूप में एक कथा है जिस में "निष्काम कर्म के महत्त्व को प्रकट किया है इन्द्रियों और विषयों के मध्य में परस्पर युद्ध हुआ। इन्द्रियां देवताओं और विषय दैत्यों के समान हैं। इन्द्रियां उन के प्रति पराजय को प्राप्त होने लगीं। उन्हों ने अपना नेता चुनने का विचार किया। पहिले नेत्र को नेता चुना। असुरों ने सुन्दर वस्तएं सम्मुख रख दीं। नेत्र तो उधर फंस गए और इन्द्रियां हार गईं। फिर श्रोत्र को चुना। असुरों ने मधुर स्वर और राग आरम्भ कर दिये। श्रोत्र उन में फंस गए। इसी प्रकार नाक को बनाया। वह

सुगन्धि वाले पदार्थों में फंस गया। तब उन्हों ने प्राण को अपना नेता चुना। प्राण में कोई स्वार्थ न था वह किसी प्रकार असुरों के दाव में न फंसा और देवताओं को विजय हुई। प्राण की नाईं निःस्वार्थी होने से ही मनुष्य संसार के युद्ध में विजय प्राप्त कर सकता है। प्राणवत होना ही देवता-पन है।

महाभारत में अपना कर्तव्य पालन करना ही बड़ा कर्मयोग कहा है।

१२६–महाभारत में कई कथायें पाई जाती हैं जो कि कर्म के महत्त्व को दर्शाती हैं। एक इस प्रकार है। एक नवयुवक योगी वृक्ष के नीचे बैठा था। ऊपर से एक पक्षी ने उसपर पुरीष कर दिया। योगी ने क्रोधित होकर ऊपर को देखा॥ वह पक्षी जलता हुआ नीचे आ गिरा। यही योगी एक दिन भिक्षा करता हुआ एक द्वार पर गया। गृहणी अपने रोगी पति की सेवा में लगी थी अतएव भिक्षा लाने में उसे देरी होगई। जब वह भिक्षा लाई तो योगी कुपित हुआ २ उसकी ओर देखने लगा। उस स्त्री ने पहिले विलम्ब का कारण बताकर क्षमा मांगी। योगी शान्त न हुआ, तो वह बोली महाराज, यहां कोई चील कौवे नहीं जो जल जायेंगे। योगी विस्मित हुआ और उससे ज्ञान सीखना चाहा। उस ने काशी नगर में उसे एक शौनिक का पता बताया जो कि स्पष्ट नीच कार्य करने पर भी ज्ञान से पूर्ण था। उनका अपना २ कर्म ही सबसे बड़ा योग था।

पतिव्रत धर्म स्त्री के लिये कर्मयोग है।

१३०—एक स्त्री के लिये सबसे बड़ा योग उसका पतिव्रत धर्म है। यह सावित्री की कथा से भली प्रकार प्रकट होता है। सावित्री एक राजा की अत्यन्त सुन्दर और सर्वगुण सम्पन्ना कन्या थी राजा को कन्या के लिये वर की आवश्यकता हुई। वह अपनी कन्या को संग ले कर उसकी अन्वेषण में निकला। सब स्थान ढूंढते २ बन के अन्दर वह एक राजर्षि देवमत-सैन की कुटी में पहुंचे। उसका पुत्र सत्यवान अति सुन्दर और सर्व प्रकार योग्य था। सावित्री ने उसे मन में वर धारण कर लिया। जब वे लौट आए तो ज्योतिषिकों ने बताया कि यद्यपि सत्यवान में सब गुण विद्यमान हैं परन्तु एक बड़ा दोष था कि उसकी आयु केवल एक वर्ष शेष थी। पिता ने सावित्री को बहुत समझाया परन्तु वह अपने प्रण से न हिली। विवाह होगया। सावित्री कुटी में रहने लगी। सत्यवान प्रतिदिन बन में काष्ठ आदि लाने जाया करता था। जब उसके मृत्यु का दिन आ पहुंचा तो उस दिन सावित्री उसके साथ बन में गई। सायंकाल समीप आया और सत्यवान को ज्वर हो गया। सावित्री उसे गोद में लेकर बैठ गई। वह गोद में शिर रख कर लेटगया और लेटे २ प्राण त्याग दिये। यमदूत लेने आए, सावित्री का तेज इतना था कि वे उसके छाया के निकट न आ सकते थे। विवश लौट गये और यमराज स्वयं लेने को आए। उनका साहस न हुआ कि सावित्री के सामने जा सकें। संक्षेपतः दूर से सावित्री को समझाना आरम्भ किया

कि सत्यवान मर चुका है वह जीवित नहीं हो सकता। उसे गोद से परे रखदे। सावित्री ने मृतक शरीर को रख दिया। जब यमराज उसे लेकर चल दिये तो सावित्री उन के पीछे चल पड़ी। यमराज उसके तप से व्याकुल होगए। उसे लौट जाने के लिये आग्रह किया और कई वरदान किये। सावित्री ने पीछा न छोड़ा। जब तक कि यमराज ने उसे उसका पति वरदान में न दिया। यह दृष्टान्त है। इस में एक महत्त्व है जिसको पहिचानना आवश्यक है।

लिङ्कन का दृष्टान्त।

१३१–और स्थानों पर भी हमें 'कर्म' के दृष्टान्त मिलते हैं। अब्राहमलिङ्कन अमेरिका का सब से बड़ा और विख्यात प्रधान हुआ है। वह अकेला घोड़े पर चढ़ा जा रहा था। मार्ग में एक सूकरा को पङ्क में फंसे देखा। वह सर्वप्रकार चेष्टा करती थी और निकल न सकती थी। लिङ्कन घोड़े से उत्तर पड़ा और बड़ी कठिनता से सूकरा को निकाला। इस चेष्टा में उस के वस्त्रों पर पङ्क के चिन्ह पड़ गए। वह सवार हो कर राज सभा में चला गया। लोगों ने पंक का कारण पूछा तो उस ने सारा वृत्तान्त कह दिया, जिस पर वह कहने लगे तुम बड़े दयावान हो जो सूकरा को भी दुःख में न देख सके। लिङ्कन ने उत्तर दिया मैंने यह कष्ट उस का दुःख निवृत्त करने के लिये नहीं उठाया परन्तु अपने हृदय के कष्ट को दूर करना मेरा आशय था।

उस का दुःख द्विगुण होकर मुझे आ लगा जिस से मैंने अपनी निवृत्ति की ।

—————:०:—————

मुलाना रोम का दृष्टान्त ।

१३२–मुलाना रोम ने एक श्लोक लिखा, "दिल हाथ में लाया पड़ा हुआ है। हज़ारों काबों से एक दिल हासिल करना बेहतर है।" धर्म शास्त्री मौलवियों ने नास्तिकता का दोष दिया और उस पर फतवा पास करने की तय्यारी होने लगी। अपनी रक्षा में उस ने उस श्लोक का कारण बतलाते हुए यह कथा बताई ।

"मैं एक बार काबा को यात्रा के लिये गया । वहां जाकर मैंने पवित्र काबा को विद्यमान न पाया। पता कर के जिधर काबा गया था मैं उस के पीछे चल पड़ा। मार्ग में काबा मिला। उस से पूछा तो उस ने बताया कि वह एक बुढ़िया के स्वागत के लिये गया था। मुझे उस बुढ़िया को देखने की इच्छा हुई। मैंने उस से पूछा कि क्या कारण है कि काबा जिस के पास लाखों मनुष्य जाते हैं तुम को लेने के लिये आया। बुढ़िया ने उत्तर दिया मुझे कुछ ज्ञात नहीं। मैंने कहा तुम ने कोई बड़ा शुभ कार्य किया होगा। बुढ़िया ने कहा मुझ से और तो कुछ कभी हुआ नहीं। केवल अभी मार्ग में आते हुए मैंने एक कुत्ता कूप पर विचरते देखा। वह प्यास से व्याकुल हो रहा था। कूप बहुत गहरा था। मैंने पत्तों का एक दोना बनाया और अपने वस्त्र फाड़ कर डोरी बनाई परन्तु वह जल तक न

जा सकी। जब कोई वस्त्र न रहा तो मैंने शिर के बालों को उखाड़ कर रस्सी बनाई और जल निकाल कर कुत्ते को पिलाया। यह कथा सुन कर मैंने कहा कि जब एक नीच प्राणी के साथ दया करने से काबा ने तुम्हारा इतना मान किया है तो मनुष्य का हृदय वश में करना अवश्यमेव काबा की यात्राओं से उत्तम है।"

———:o:———

युधिष्ठिर का दृष्टान्त।

१३३–इन से कहीं बढ़ कर युधिष्ठिर का दृष्टान्त है। राज पाट भोग करने के पश्चात् पांचो भाइयों ने यह निश्चय किया कि हिमालय में जा कर मुक्त हो जायें। द्रौपदी को साथ लेकर सब हिमालय की ओर चल पड़े। उस मार्ग पर जाते हुए पीछे लौट कर देखना पाप समझा जाता था। सब से पहिले द्रौपदी भूखी प्यसी थक कर रह गई और प्राण त्याग दिये। चलते चलते नकुल और सहदेव हार गए, और प्राण हीन होकर गिर पड़े। फिर भीम और अर्जुन भी रह गए। युधिष्ठिर अकेला जा रहा था परन्तु एक कुत्ता आरम्भ से अन्त तक युधिष्ठिर के साथ जाता था। अन्त को युधिष्ठिर इन्द्रलोक के द्वार पर पहुंचा युधिष्ठिर के लिये द्वार खोला गया। उस ने कुत्ते को अन्दर प्रविष्ट होने के लिये कहा। इस पर वहां से उत्तर मिला नीच कुत्ता इन्द्रलोक के अन्दर कैसे प्रवेश कर सकता है? युधिष्ठिर ने कहा, मैं अपने साथी को त्याग कर अकेला अन्दर न जाऊंगा। परस्पर विचारानंतर कहा गया कि

कुत्ते के अन्दर जाने का केवल एक उपाय हो सकता है, अर्थात् यदि तुम उसे अपने सारे पुण्य कर्मों का फल दे दो। जैसे ही युधिष्ठिर ने इसे स्वीकार किया ज्वालिका ऊपर हुई, दृश्य परिवर्तित हुआ, सब लोकों में युधिष्ठिर की जय २ कार हुई। द्रौपदी और चार भाई युधिष्ठिर के सामने थे और कुत्ता धर्मराज के रूप में हाथ जोड़े युधिष्ठिर के साथ था।

मत-मतान्तर।

धर्म का तत्व।

१३४-धर्म्म का वास्तविक और यथार्थ तत्त्व तो यह है कि किस प्रकार मनुष्य सर्वात्मा को अपने अन्दर अनुभव कर सके, और उस के साथ अपने सम्बन्ध को पहिचान सके। यही ज्ञान है, और यही कर्म-भक्ति आदि का प्रयोजन है। यदि हम धर्म का तत्त्व इस अर्थ में जान लें तो समझ में नहीं आता कि इसके लिये क्यों भिन्न२ झण्डे धर्म के नाम पर खड़े किये जायें, और क्यों इस प्रकार एक दूसरे के विरुद्ध द्वेष की अग्नि भड़काई जाए। वास्वविक बात यह है कि धर्म के अर्थ कुछ और समझे जाते हैं। आर्यभाषा में इस का पर्याय कोई शब्द नहीं मिलता जिस के अर्थ यह कि देश में कोई धर्म विद्यमान न था। धर्म का तत्त्व अर्थात् बीजतो अनादिहै, और वह न केवलयहांविद्यमान थापरन्तुयहांसेसंसारमेंफैला। भिन्नरमत मनुष्य से निर्मित कियेगये हैं और सब क्षणिक हैं अर्थात्अचिर काल से आरम्भ हुए हैं। उदाहरणतया ईसाई मत को लें। इस की आज कल सैंकड़ों शाखायें हैं, यद्यपि आरम्भ में ईसाई मत एकथा। यह सब शाखायें इस ईसायित से निकली हैं। इस्लाम की समस्त शाखायें एक इस्लाम से आरम्भ हुई हैं। वृक्ष का प्रकांड एक होताहै उस की शाखायें अननिग-

णित होती है। ऐसे ही सर्व मत वास्तविक मत के भिन्न२ रूप हैं। शाखाओं पर बैठने से मनुष्य दूसरों से इतना भेद रखता है। प्रकांड का विचार करने से सब एक ही वृक्ष पर हैं।

मत के अर्थ।

१३५-मज़्हब शब्द अरबीभाषा में उस धातु से निकला है जिस से तहज़ीब। आङ्गल भाषा में Religion के अर्थ विश्वास के हैं। आर्य भाषा में मत शब्द प्रयोग किया जा सकता है जिस के अर्थ सम्मति के हैं वा धर्म जिस के विशेष अर्थ कर्तव्य के हैं। आधुनिक समस्त धर्म जो कि वास्तव में मत ही हैं प्राचीन काल की सभ्यता और उन्नति हो चुकने के पश्चात् ही प्रकाशित हो सकते थे। सामीमत पहिले विशेष वादों पर अपना विश्वास ठहरा लेते हैं। अन्त में उन्हीं वादों को जानने अथवा सिद्ध करने का यत्न करते हैं। इस के विपरीत आर्य जाति के तत्त्ववेता ऋषि मत के तत्त्व को ज्ञान के नाम से बुलाते हैं। वे किसी कल्पित परमात्मा अथवा आत्मा को लेकर नहीं चलते। वे ब्रह्माण्ड को जिसे अपने चिर्द देखते हैं समझने का यत्न करते हैं और केवल इन बातों पर विश्वस लाते हैं जिनको वे अपनी खोज द्वारा भली भान्ति प्रतीत करते हैं। वेदों और उपनिषदों का अध्ययन सब से अधिक शिक्षादायक इस विचार से है कि किस प्रकार मनुष्य सृष्टि के आदि ऋषिजनकी बुद्धि औरहृदय चमकतेहुए दर्पणकेसमान निर्मल

थे, क्योंकि उन में विषय वासना की गन्ध तक उत्पन्न नहीं हुई थी। इस अनन्त ब्रह्माण्ड को अपने सन्मुख विस्तृत हुआ देख कर महाश्चर्य अनुभव करते हैं और किस प्रकार इस के अन्दर अपनी खोज करते २ अन्त को ब्रह्म तक पहुंचते हैं। वेद में कई मंत्र इस प्रकार के आते हैं।

"कस्मै देवाय हविषा विधेम" अर्थात् कौन देवता है जिस के लिये आहुति देवें। उपनिषदों में प्रश्नोत्तर का क्रम कितना उत्तम और मनोहर है। सब से पूर्व आर्य ऋषि बाह्य संसार से चलकर उस के अन्दर काम करती हुई शक्ति तक पहुंचे। उन के दर्शनिक विचार साधारण रूप से विशेष सिद्धान्तों के रूप में संसार में विस्तृत हो गए।

—:o:—

मत के भिन्न २ अङ्ग।

१३६—यह मत क्या हैं? प्रत्येक मत पांच भिन्न २ अङ्गों से संयुक्त है। नीति, फिलौस्फी, सदाचार, लोक कथा और अज्ञात बातों पर विश्वास। मत के एक भाग में तो राजकीय तथा सामाजिक बातों का वर्णन है। कोई मत इस से शून्य नहीं। इङ्गलिश चर्च तो केवल एक राजनैतिक संस्था है जिस का शिरोमणि राजा है। दूसरे भाग में धर्मोपदेश और धर्म व्याख्यान होते हैं जिन को बताकर मत की उत्तमता को प्रकट किया जाता है। प्रत्येक मत ने आत्मा के आरम्भ और अन्त के सम्बन्ध में अपना मत स्थापित किया है। यह उस की फिलौस्फी है अपरंच

प्रत्येक मत में इसके प्रवर्तक और पथ प्रदर्शकों के सम्बन्ध में आख्यायें सत्य अथवा अत्युक्ति से भरी हुई पाई जाती हैं।

यदि किसी जाति की सभ्यता पर ध्यान दिया जाए तो प्रतीत होगा कि प्रत्येक जाति का जातित्व भी उन की भाषा, साहित्य, इतिहास, फिलौसफी इत्यादि अंगोंसे संयुक्त होता है। पुरातन जातियों की (जिन्हें पैगन कहा जाता है) सभ्यता और आधुनिक मतों में इतना अन्तर है कि मत अयोग्य प्रतीत बातों के विश्वास पर बल देते हैं और प्राचीन जातियां रीतियों पर अधिक बल देती हैं। इस अन्तर को छोड़ कर देखें तो प्राचीन सभ्यता और आधुनिक धर्म के अर्थ और प्रयोग एक ही हैं। नीति शास्त्र का श्लोक है। "धर्म रक्षित किया हुआ रक्षा करता है। धर्म मारा हुआ नाश कर देता है।" जाति धर्म भी जाति का बचाने वाला है। धर्म और सभ्यता भी जाति के रक्षक हैं। यह कथन निरर्थक नहीं कि जाति-धर्म, धर्म, सभ्यता एक ही अर्थ रखने वाले शब्द हैं।

——:o:——

हमारा मत क्योंकर हुआ?

१३७—हमारा मत कैसे हुआ? जिसे हम अपना मत कहते हैं और जिसके लिये हम सब कुछ त्याग करने पर उद्यत हो जाते हैं किन्तु बहुत न्यून पुरुष हैं जो इस को विचारते हैं, कि इनका मत क्योंकर इन का मत है। जिस मतको हम अपना समझकर इतनाप्रेम करतेहैं इसके वरण

में हमारा किञ्चित मात्र भी हाथ नहीं होता। हम एक विशेष देश में विशेष माता पिताके हां जन्म लेतेहैं। साधारणतया उनका मत ही हमारा मत होता है। बाल्यावस्था में विशेष विचारों का क्रम हमारे मस्तिष्क पर ऐसा जम जाता है कि हम जीवन में कितनी उन्नति विद्या तथा बुद्धि में क्यों न करलें इन विचारों से पीछा नहीं छुड़ा सकते। हमारा समाज तथा हमारी पाठशालायें भी इसी प्रभाव को हमारे हृदयंगम करती हैं। एक से प्रेम दूसरों से द्वेष होता है। अपने धर्म के साथ हमारा अनुराग इतना हो जाता है कि जो कुछ उसके अनुसार न हो वह हमें बुरा लगता है। दूसरे धर्म से घृणा हो जाती है। यह हमारे पक्षपात की नींव है जिससे दूसरों के लिये सहन शक्ति का उत्साह हमारे हृदय में स्थान नहीं रखता, इसी से धार्मिक असहन शक्ति संसार में विस्तृत हुई है जिसके आधार पर जो क्रूरतायें मनुष्य ने मनुष्य पर कीं वे न तो शैतान ने कीं न किसी और प्राकृतिक शक्ति ने कीं।

——:o:——

धार्मिक पक्षपात अत्यन्त घृणा उत्पन्न करता है।

१३८-इस काल में स्पष्टतया धर्म के नाम पर वे युद्ध और रक्तपात नहीं होते जो कि गतकाल में होते रहे। इस लिये हम समझने लग जाते हैं कि अब संसार उन्नति कर गया है और धर्मोन्माद दूर होगया है और इसके द्वितीय

बार प्रचलित होने का कोई भय नहीं । यह केवल दर्शनीय बात है । वस्तुतः ध्यान दें, प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति को केवल इन ही कामों में व्यय करता है जो या तो प्रेम से किये जाते हैं वा घृणा के कारण करने पड़ते हैं राग और द्वेष दो भाव हैं जो मनुष्य के व्यवहार को चलाते हैं। मनुष्य मात्र में कितने क्रोड़ एक धर्म के विचार रखने वाले शेष समस्त मनुष्यों से धर्म के आधार पर द्वेष रखते हैं। इस आधार पर अनुमान करने से पता लगेगा कि संसार में सब से अधिक घृणा धर्मविरोध के कारण से उत्पन्न होती है । यद्यपि मनुष्य वर्तमान शिक्षा का आश्रय लेकर कहते हैं कि हमें अब नई रोशनी में विरुद्ध बातों को सहन करना सीखना चाहिये परन्तु इसमें कठिनता तो यह है कि धार्मिक शिक्षा सिखाती है कि शेष सर्व धर्म अशुद्ध हैं, व्यर्थ हैं अतएव ऐसी शिक्षा पाया हुआ पुरुष दूसरों को कैसे अपने समान समझ सकता है ? इसकी प्रति क्रिया केवल गीता बताती है जहां कि यह कहा है कि "समस्त मार्ग मेरे तक आते हैं । जो २ जिस २ मार्ग से आता है मैं उसी मार्ग से उसे ले लेता हूं" । यह यथार्थ सहन शक्ति है जो कि और कहीं दिखाई नहीं देती । हज़रत इबराहीम का किस्सा है कि वह प्रतिदिन अतिथि को भोजन खिला कर स्वयं खाया करता था । दैवयोग से तीन चार दिन पर्यन्त उसे कोई अतिथि न मिलने से भूखा रहना पड़ा । अन्त को बड़ी अन्वेषण के उपरान्त एक वृद्ध पारसी इसे मिला जिसको वह गृह ले आया । भोजन परोसा गया । इबराहीम ने प्रार्थना पढ़ी । पारसी ने विना किसी प्रार्थना

के खाने को हाथ बढ़ाया। इबराहीम ने पूछा यह क्या? वृद्ध पुरुष ने उत्तर दिया परमात्मा के नाम लेने की हमारे रीति नहीं। इस पर हज़रत को क्रोध आया, खाना भूल गए और लाठी लेकर उसे निकालने लगे जब कि अकस्मात् दैवदूत दृष्टिगोचर हुआ। उसने इबराहीम को उपदेश किया और कहा "मैंने इस वृद्ध को ८० वर्ष लों भोजन दिया है। तुम्हें केवल एक ही दिन भोजन देना पड़ा है और इतने में व्याकुल हो गए हो"। तब इबराहीम को समझ आई और शान्त हुई।

भिन्न २ मतों की विस्तृति।

१३६–मत किस प्रकार फैले? पुरातन जातियां भी जहां जाती थीं अपनी सभ्यता फैलाती थीं। परन्तु यह कहना चाहिये कि इन की सभ्यता की उत्तम बातें स्वयमेव अन्य जातियां धारण कर लेती थीं। किन्तु जब आधुनिक मत ने सभ्यता का स्थान ले लिया तब से इस की विस्तृति की विधियां भी असामान्य हो गईं। यद्यपि कृष्ण ने गीता में अपनी भक्ति और प्रेम पर बल दिया है परन्तु वह सब अलंकार है। 'अपनी' से अभिप्राय वहां आत्मा से है। 'बुद्धमत' सब से पूर्व संसार में हुआ जिस में गौतमबुद्ध ने अपने नाम पर मत प्रचलित करके 'प्रचार' को विस्तृति का साधन बनाया। बुद्ध के दृष्टान्त को सम्मुख रख कर किस प्रकार राजाओं महाराजाओं के पुत्र तथा कन्यायें प्रचारक तथा प्रचारिका बन कर देश २ में फिर गईं। अभी तक काल देख रहा है। इस के उपरान्त ईसाईमत ने अपने

आप को विस्तृत करनें के लिये "प्रेम तथा नम्रता के प्रचार" से अधिक काम लिया किन्तु साथ ही खड्ग की भी पर्याप्त प्रयोग किया। इस्लाम ने तो अपने विस्तार के लिये केवल खड्गका आश्रय लिया और समय आया जब कि दोनों मतों के खड्गों का परस्पर प्रतियुद्ध हुआ। आठवीं शताब्दी के आरम्भ में स्पेन पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् इस्लामी सेना ने फ्रांस पर आक्रमण किया। समस्त ईसाई जातियां प्रतियुद्ध के लिये उद्यत हुईं। पैरस के निकट इस्लाम तथा ईसाइयों के मध्य में निश्चयकारी युद्ध हुआ जिस के परिणाम के सम्बंध में विख्यात अंग्रेज ऐतिहासिक गिब्बन यूं लिखता है। "यदि इस युद्ध में इस्लाम को विजय प्राप्त होती तो आज औक्सफोर्ड और कैम्ब्रज विश्वविद्यालाओं में विद्वान् अंग्रेज विद्यार्थियों को कुरान पर व्याख्यान देते होते। चारलस मार्टल ने हरिवर्ष को इस उपद्रव से बचा लिया।" परन्तु गिब्बन को यह विचार न रहा कि जिन साधनों से हरिवर्ष वा ऐङ्गलस्थान ईसाई हुए थे उन का भी वैसा ही पद था।

विस्तार के उपाय।

१४०–यदि वर्तमान मत रखने में लोगों का हाथ नहीं तो यह देखना रह जाता है कि जिन लोगों ने मत धारण किये कोई सोच विचार के पश्चात् वे इस परिणाम पर पहुंचते हैं। पुरुषों वा जातियों ने जिन प्रभावों के नीचे आकर धार्मिक परिवर्तन धारण किये हैं विस्मय में डालने वाले हैं कि इनके अतिरिक्त मतसे इतना प्रेम किया जाता

है। सबसे बड़ी शक्ति इन परिवर्तनों के उत्पन्न करने वाली खड्ग तथा युद्ध में विजय है। जैसे खड्ग की शक्ति ने दो प्राचीन जातियों मिश्र के लोगों तथा ईरान के लोगों को मुसलमान बनाया, वैसे ही उसने जर्मनी को ईसाई बनाया। रोमा का राजा कैन्सनटायन युद्ध में जा रहा था, जब उस ने अपने सिपाहियों को ईसाई नमाज़ पढ़ते देखा उस ने उन से कहा कि यदि वे विजय प्राप्त करलेंगे तो वह भी ईसाई मत धारण कर लेगा। ऐसे ही हुआ "विवाह ने भी" धार्मिक परिवर्तन में बड़ा भाग लिया है। जैसे फ्रांस का राजा ईसाई कन्या से विवाह करके ईसाई हो गया वैसे ही फ्रांस की ईसाई राजपुत्री ने कैण्ट के राजा को और फिर वहां की राजपुत्री ने ऐङ्गलिया इत्यादि के राजा को ईसाई मत में सम्मिलित किया। अज्ञान कालमेंचमत्कार के किस्से कहानियों ने धार्मिक परिवर्तन में बहुत काम किया है जिस के साथ प्रचारकों और मिश्नरयों के पुण्य तथा त्याग वाले जीवन सहायता करते रहे हैं। पाठशालाओं तथा अरोग्यशालाओं को धर्म विस्तृति का साधन बनाया गया है जिनमें सरल हृदय नवयुवकों तथा निर्धन रोगियों को फिस्लाने की चेष्टा की जाती है। इस देश में अत्यन्त निर्धनता के कारण से दुर्भिक्ष में अनाथ बच्चों को ऐसे वश में किया जाता है जैसे फंदक जाल के साथ दाना डाल कर कपोतों को फंसाते हैं। जितना ध्यान किया जाए उतना ही स्पष्ट होता है कि जिन लोगों ने इन प्रभावों के अन्दर आकर अपना धर्म परिवर्तित किया है, न उन्होंने कोई धार्मिक उन्नति की है और न मत के चुनाव में कुछ

सोच विचार से काम लिया है, और न यह साधन मत के सच्चा होने पर किञ्चित् मात्र भी संदेह रखते हैं।

सब मतों का उद्गमस्थान एक है।

१४१–मतों की पारस्परिक सापेक्ष विद्या इस परिणाम पर पहुंची है कि समस्त मतों का एक ही केन्द्रस्थान है और इन के परस्पर स्पष्ट विरोद्ध वस्तुतःउनही सिद्धान्तों के उलट पलट और बिगड़े हुए रूप हैं।

सब से प्राचीन काल में आर्यावर्त, बैबलोनिया और मिश्र ने उन्नति की थी। यदि इन की सभ्यताओं को परस्पर तुलना की जाए तो इन के अन्दर उच्च कोटि तक पारस्परिक एकता प्रतीत होती है। जीवात्मा का पुनरागमन, समाज का विभाग, देवताओं की पूजा बड़ी २ सामान्य बाते हैं। आर्यों के नियम, रीतियों तथा धर्म के साथ पुराटन मिश्र की यहां तक एकता है कि एक फ्रांसीसी विद्वान् जैकालियट ने जो कि चन्द्रनगर में प्रधान न्यायाध्यक्ष था अपनी पुस्तक 'बाईबल इन इण्डिया' में दृढ़ युक्तियों से सिद्ध किया है कि इस सब धर्म और नियम में मिश्र वालों ने आर्य्यधर्म शास्त्र का अनुकरण किया, जिसे की यहूदियों ने मिश्र से निराकरण के समय सीखा और अपनी त्वरेत में लिखा। यहूदी जाति ने इस के साथ बैबलोनिया की सभ्यता को अपने अन्दर निगीर्ण कर लिया और चिरकाल पर्यन्त इन में देवताओं की पूजा होती रही। अन्त को देवताओं का संग्राम होते २ एक देवता

Mollal Iochava की विजय हुई और सब से बड़ा माना गया।

—:o:—

एरानियों और आर्य्यों का गूढ़सम्बन्ध।

१४२–प्राचीन एरानी आर्यों से बहुत गूढ़ सम्बन्ध रखते थे। एक बड़े फ्रैन्च पण्डित डारमस्टेटर ने एरानी साहित्य विशेष कर अध्ययन किया। वह इस परिणाम पर पहुंचा है कि जन्द अवस्था की लेख शैली और प्रतिपाद्य विषय वेद से बहुत मिलता है। पारसी धर्म की मोह विधि, अग्नि का पावित्र रखना और पवित्र धागा आदि यह सिद्ध करते हैं कि दोनों सभ्यताऐं सर्वथा एक ही थीं। एरानियों ने न केवल यहूदी धर्म पर उन के एरान में कारागृह में रहने के समय प्रभाव किया किन्तु यूनान और इटली में भी अपनी सभ्यता को फैलाया। इन दोनों देशों में जो कि हरिवर्ष में सभ्यदेश थे, ईसाई होने से पहिले "मिथरा" देवता की पूजा प्रचलित थी। यही देवता वेदों में 'मित्र' कहलाता है जिस के अर्थ सूर्य्य के हैं। इटली के लोगों का सब से बड़ा मेला इस देवता की जातीय पूजा थी जो कि दिसम्बर के अन्त में सूर्य्य उत्तरायण आने के समय की जाती थी। पहिले पहल ईसाइयों ने थोड़ी शक्ति पकड़ने पर इस मेला को रोकने की चेष्टा की। परन्तु जब देखा कि इटली के लोग इसे न छोड़ेंगे तो इस मेला को मसीह की उत्पत्ति की कल्पित तिथि बना कर क्रिस्मस (बड़े दिन का मेला) बना लिया।

बुद्धमत का संसार पर प्रभाव।

१४३-मसीह की उत्पत्ति से कुछ चिर पहिले बुद्धमत के प्रचारक एक ओर एरान, सायेरीनेरिया इत्यादि में पहुंच चुके थे, और उनके विचारों का प्रचार हो चुका था। अफगानिस्तान तो सर्वथा बुद्धमत में आगया था। दूसरी ओर ब्रह्मा, चीन और जापान में भी बुद्धमत बल पकड़ रहा था निष्पक्षपात पण्डितों की सम्मति है कि मसीह की शिक्षा में यहूदी मत से अतिरिक्त जो उत्तम सात्विक और आध्यात्मिक विचार पाये जाते हैं वे बुद्ध की शिक्षा के प्रचार का परिणाम है। न केवल यह किन्तु आरम्भ के चर्च ने बहुत सी रीतियों का अनुकरण बुद्धमत से किया। परिव्राजिक तथा परिव्राजिकायें, पादरियों की माला गिर्जों में मूर्ती के आगे धूप दीप और ज्योति जलाना इत्यादि सब रीतियां बुद्धमत की थीं। शताब्दियां व्यतीत होगई। समस्त हरिवर्ष ईसाई होगया। जब हरिवर्ष के पादरी पहले पहल आर्यावर्त में आए और उन्होंने यह सब रीतियां मन्दिरों में होती देखीं तो वे एकता देखकर विस्मित हो गए और समझने लगे कि शैतान उनकी नक़लें उतरवा रहा था बुद्धमत के अत्यन्त आवश्यक शब्द निर्वाण, बुद्धियोग, बुद्धियुक्त गीता में पाये जाते हैं। बुद्धमत के 'अर्हत' और गीता के "स्थितप्रज्ञ" के लक्ष्य सर्वथा एक से हैं। गीता के कई श्लोक तथा दूसरे अध्याय का ६८, वां सातवें अध्याय का २८ वां और बारहवें अध्याय का १५ वां

"यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नो द्विजते चयः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः"॥

लगभग अक्षरशः बुद्ध पुस्तकों में पाये जाते हैं।

यहूदी कथायें और इस्लाम।

१४४–इस्लाम ने अरब की सभ्यता और राजनैतिक शक्ति को संसार में स्थापित किया। अरब की प्राचीन सभ्यता बैबेलोनिया की सभ्यता की शाखा थी। काल के हेर फेर में यह सर्वथा लोप हो चुकी थी। हज़रत मुहम्मद की प्रशंसा इसमें पाई जाती है कि उस ने एक ऐसी अग्नि उत्पन्न की जिस ने पुरातन लड़ते झगड़ते अंगो को भस्मीभूत करके एक नया जीवन उत्पन्न कर दिया, जिस ने कि संसार का पलटा पलट दिया। यह जीवन यहूदी मत के सिद्धान्तों के द्वारा उत्पन्न किया गया जिन पर कि मुहम्मद साहबकी पैगम्बरी की मोहर लगी है। पैगम्बरी का सिद्धान्त, सृष्टि उत्पत्ति, आदम और हौआ, नरक और स्वर्ग का नक़शा, हराम और हलाल, पवित्र और अपवित्र के सिद्धान्त, खुतना की रीति, सूकर के विरुद्ध शपथ, सब के सब यहूदी मत के सिद्धान्त हैं। भेद इतना अवश्य है कि यहूदी इन्हें अपनी जाति के लिये विशेष समझते रहे और कभी दूसरों के अन्दर उन का प्रचार करके अपने मत में प्रविष्ट नहीं किया। यह रोग तो केवल बुद्धमत से आरम्भ हुआ है। प्राचीन अरब के लोग जो कि मुहम्मद साहब के विरुद्ध थे उन पर यह बड़ा भारी आक्षेप करते थे कि जितने सिद्धान्त उन के पवित्र पुस्तक में बताये गए हैं यह सब प्राचीन डकौन्तले हैं। इस का

उत्तर दिया जाता था कि परमात्मा इसका निश्चय करेगा।

मुहम्मद साहब अपने धर्म का विशेष महत्त्व समझते थे। यह कथन है कि एक अवसर पर एक स्थान में थे जहां की लोक संख्या अधिकतर ईसाई थी। दैवयोग से वह जेरुसलम (ईसाइयों का एक पवित्र स्थान है) की ओर मुख कर के नमाज़ पढ़ते थे। सहस्रों ईसाई उनके पीछे नमाज़ के लिये एकत्रित हो गए। किसी ने उन को बताया कि वे सब लोग "जेरुसलम" के कारण उन के पीछे आते हैं। दूसरे समय मुहम्मद साहब ने उस के विरुद्ध मुख कर दिया। सब लोग उठ गए। केवल सात मनुष्य रह गए। मुहम्मद साहब ने प्रत्येक को अपने गले लगाया और कहा कि "तुम मेरे हो, वे सब मेरे न थे।"

—:o:◯:o:—

हरिवर्ष में पुरातन विद्या का नया जन्म।

१४५–धार्मिक इतिहास का अध्ययन मनुष्य को आश्चर्य में डाल देता है कि धर्म और परमात्मा के नाम पर देशों के अन्दर और भिन्न २ जातियों के मध्य में कितने घोर संग्राम और रक्तपात हुये। इस्लाम और ईसाई मत के शताब्दियों के जहाद रोमन कैथोलिक तथा प्रोटस्टैण्ड चर्चों के परस्पर युद्ध इस बात के साक्षी हैं। लगभग एक सहस्र वर्ष पर्यन्त हरिवर्ष ईसाई मत के प्राधीन रहा जो कि हरिवर्ष में अंधकारमय काल कहा जाता है। चर्च ने समस्त विद्याओं पर अधिकार जमाकर संसार में इनका लोप कर देना चाहा। १५ वीं शताब्दी के मध्य में जब कुस्तनतनिया

तुर्कों के हाथ में आया तो विद्वान् पुरुष यूनानी और रोमन फिलौसफी और सभ्यता की समस्त पुस्तकें अपने साथ लेकर हरिवर्ष के देशों में विस्तृत होगए। पुनः इनका अध्ययन हरिवर्ष में आरम्भ हुआ। इसे विद्या का नया जन्म कहा जाता है। यदि प्राचीन पेगन सभ्यता हरिवर्ष में न फैलती तो कभी यह स्वतन्त्र विचार और प्रकृति को प्रेम का अंश उत्पन्न न होता जो कि हरिवर्ष की वर्तमान उन्नति के आधार पर है। इसी स्वतंत्र विचार ने वह बड़ा परिवर्तन उत्पन्न किया जिसे रीफारमेशन कहा जाता है। रीफारमेशन के सिद्धान्तों का प्रचार था जिस से कि अन्त को फ्रांस का बड़ा परिवर्तन हुआ। उसी आधार पर अब हरिवर्ष में ऐसे विद्वान् विद्यमान हैं जिन के नेत्र खुले हैं और ईसायित को २००० वर्ष का कूड़ा कर्कट बता कर बाहर निकाल फैंकने पर उद्यत हैं।

विषयसूची।

—:o:—

१४२—यह तो मतों के इतिहास पर एक साधारण दृष्टि थी। अभी उन की वास्तविकता को जानना शेष है। यदि साधारणतया देखा जाए तो मत के दो बड़े भाग हैं एक भाग को 'शिक्षणिक' कहा जा सकता है जिस में मनुष्यों के लिये उपदेश तथा आज्ञाएं दी गई हैं यथा सत्य बोलना चाहिये। सब से प्रेम करना चाहिये इत्यादि। दूसरा भाग 'व्यवहार योग्य' है। इस में सब विश्वास अथवा सिद्धान्त अन्तर्गत हैं जिन को अपना मत के अनुयायिओं के लिये आवश्यक है। तथाहि, एक परमात्मा है जो संसार को उत्पन्न करता है। मनुष्य को विशेष विधि से दण्ड तथा फल देता है इत्यादि। जहां तक पहिले भाग का सम्बन्ध है समस्त मतों के अन्दर लग भग पूर्ण समान्यता पाई जाती है। परस्पर वर्तावि के और दूसरे सात्विक नियम सब में एक से ही पाए जाते हैं। कोई मत कोई नई बात नहीं सिखाता। ईसाई प्रचारक कई बार कहते सुने जाते हैं कि मसीह की यही शिक्षा है। "शत्रु से प्रेम करो"। परन्तु इस्लाम्यों पूर्व बुद्ध ने इसी सत्य को अति उचित रीति से बताया है। "हे आनन्द! घृणा कभी दूर नहीं होती किन्तु प्रेम से दूर होती है।" यह केवल सिद्धान्तों में है जहां कि मतों का एक दूसरे से स्पष्ट विरोध पाया जाता है। द्वेष रखने वाले अथवा कलह प्रिय-पुरुष के लिये तो

यह विरोद्ध जीवन के लिये पर्याप्त काम देदेते हैं। परन्तु दूरदृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि इन स्पष्ट विरोद्धों के नीचे एकता की बड़ी तरंग पाई जाती है जो कि सब को अन्त में एक ही केन्द्रस्थान तक लेजाती है।

ईश्वर पर विश्वास।

१४७–सब से बड़ा और सब मतों का सहमतसिद्धान्त तो ईश्वर पर विश्वास है। वह ईश्वर क्या है? इस का जानना तो असम्भव है। इस से बढ़ कर और वर्णन नहीं हो सकता, जो कि गीता में कहा है। "कई उसको आश्चर्य देखते हैं, कई उसे आश्चर्य कहते हैं। दूसरे उसे आश्चर्य सुनते हैं, परन्तु सुनते हुए भी उसे कोई नहीं जानता।" प्रत्येक पुरुष अपनी २ बुद्धि के अनुसार उस का एक विचार अपने हृदय में बना लेता है। संसार में जहां पर एकता है वहां विरोद्ध इतना है कि प्रत्येक मनुष्य अपने रूप में, रंग में, ढंग में, वर्तालाप में समस्त मनुष्यों से पृथक् है। केवल गति से मनुष्य पहिचाना जाता है, इस लिये कि प्रत्येक की गति पृथक् २ होती है। बुद्धि भी प्रत्येक की भिन्न २ है, अतः ईश्वर भी सब के लिये भिन्न २ ही है। अफ्रीका के जंगली से जो कि नग्न रहता है पूछो, वह ईश्वर क्या है? वह अंगुली ऊपर को कर देता है। उस की बुद्धि इतनी ही है। इस के प्रति बौद्ध फिलौसफर है जो कि अपनी बुद्धि को दौड़ाता है और ईश्वर का कोई विचार मन में नहीं ला सकता। उस के लिये मनुष्य ही

जो निर्वाण-पद प्राप्त कर लेता है बुद्ध हो जाता है। वही उसका ईश्वर है। पारसी मत वाले प्रकाश की शक्ति को ही ईश्वर समझ सकते हैं जिस की प्रत्यक्ष मूर्ति सूर्य्य है। प्राचीन पेगन (रोमा तथा यूनान के लोग) प्राकृतिक शक्तियों को ईश्वर वा देवता स्वीकार करते हैं। सैमेटिक मत ईश्वर को एक बड़ा राजा समझते हैं जो संसार पर शासन करता है और इसे चलाता है। उपनिषद्कार ऋषि उसे ब्रह्म कहता है जो एक चेतन शक्ति ब्रह्माण्ड के अन्दर काम करके इसे चलाती है। यह प्रश्न "क्या तुम ईश्वर को मानते हो ?" जोकि इतना साधारण है वस्तुतः कितना निरर्थक है जब तक यह निश्चय न कर लिया जाए कि ईश्वर का लक्षण क्या है ?

ईश्वर से हमारा सम्बन्ध।

१४८–दूसरा सिद्धान्त, ईश्वर के साथ हमारे सम्बन्ध के सम्बन्ध में है। समस्त मत किसी न किसी प्रकार उस के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना बतलाते हैं। और क्योंकि सबके लिये उसकी पृथक् २ मति है अतः वह सम्बन्ध भी कई प्रकार का है। जो पुरुष उसका स्पष्ट विचार नहीं कर सकते वे अपने सम्बन्ध के विषय में कुछ विचार नहीं करते। जो इसे शासक समझते हैं वे स्वभावतः इसकी स्तुति तथा प्रशन्सा करना आवश्यक जानते हैं, जैसा कि प्रजा अपने अफ़सर अथवा राजा की प्रसन्ता के लिये करती है। इस लिये मतों ने भिन्न २ प्रकार की प्रार्थनायें और सन्ध्या की

रीतियां निश्चित की हैं। यह एक सर्वथा दूसरी बात है कि ऐसी रीतियों से सामाजिक प्रेम अथवा संगठन उत्पन्न होता है। यह धार्मिक बात नहीं किन्तु सामाजिक बात है। इसी विचार से उसको पहुंचने के लिये वा क्षमा याचना के लिये उसके मित्र अथवा सम्बन्धी के अनुग्रह की आवश्यकता होती है नहीं तो पार करके उसके कोप की अग्नि से बचना कठिन समझा जाता है। इनके विपरीत आर्यशास्त्र यह कहते हैं कि हमारा काम केवल यही है कि उसे 'अनुभव' करें। यह अनुभव ज्ञान, ध्यान आदि मार्गों से प्राप्त होता है। गीता के अध्याय ९ के ३०, ३१, ३२ वें और अध्याय १३ के ८ वें श्लोक में कहा है कि मनुष्य कितना ही पापी क्यों न हो जब उसने मेरी ओर आने का निश्चय कर लिया तो वह शीघ्रमेव सुधर जाता है। मेरी शरण में आने से पापी, शूद्र, वैश्य, स्त्री सर्वसिद्धि, को प्राप्त हो सकते हैं।

मुक्ति का नक़्शा।

१२९-तीसरा सिद्धान्त मुक्ति का है। ऐसा प्रतीत होता है कि सैमेटिक मतों ने अध्यात्मिक सृष्टि का नक़्शा अपने सम्मुख भौतिक-संसार रखकर बनाया है। अहंकार अथवा दृष्टान्त के रूप से तो ठीक है। यदि यह विचार हो तो इन सिद्धान्तों के लिये संग्राम की पुनः क्या आवश्यकता है। उसको अक्षरशः ठीक मानने से कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि वस्तुतः कोई स्वर्ग वा नरक है तो वह या तो इस संसार के कारागृहों इत्यादि की नक़ल परमात्मा

ने बनाई है या इन लोगों ने परमात्मा की प्रतिमा पर चलने का यत्न किया है। स्वर्ग के सम्बन्ध में जो आदि ध्यान दिया जाए तो प्रत्येक मत और देश के लोग अपने २ विचारों और परिस्थितियों के अनुसार उसका रूप बना लेते हैं। नार्वे इत्यादि देश के लोग तो स्वर्ग बर्फ से भरा हुआ विचारते हैं ताकि उन्हें वहां बर्फ का आखेट करने की प्रसन्नता प्राप्त हो सके। अरब के लोग उसे नदियों और हूरों इत्यादि से भरा हुआ विचार कर लेते हैं क्योंकि उन के हृदयों को वही प्रिय लगता है। फिर बताया जाता है कि प्रलय के दिन सब मृतक शरीर जीवित हो जायेंगे और स्वर्ग में प्रविष्ट होने वालोंको अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से मिलने का आनन्द प्राप्त होगा। प्रथम तो यह स्वर्ग बड़ा ही विशाल होगा जिसमें सर्वजन आ जायेंगे। दूसरे बड़ी यह कठिनता होगी कि प्रत्येक पुरुष जो किसी का पुत्र और किसी का पिता होगा। वह कौन सी आयु में पुनः जीवित किया जायेगा ताकि माता पिता को पुत्र के रूप में और पितामह पितामही को पौत्र के रूप में, अपने पुत्र को पिता के रूप में, और पौत्र को पितामह के रूप में दिखाई देगा। इसी लिये प्रसिद्ध कवि ग़ालब ने कहा है "हमें मालूम है जिन्नत की हकीकत, लेकिन दिल के बहलाने को ग़ालब यह ख्याल अच्छा है।" जो मनुष्य ईश्वर को एक महा शक्ति जानते हैं उनके लिये इस शक्ति से दूर होना अज्ञान है। अज्ञान दुःख है। इस के समीप रहना ज्ञान है। ज्ञान सुख है। अतः ईश्वर के चरणों में सदा रहना ही उनकी मुक्ति है। वेद मन्त्र कहता है "उसको जानकर ही मृत्यु के समुद्र

का हम उलंघन कर सकते हैं और कोई मार्ग नहीं है।"

उत्पत्ति का सिद्धान्त ।

१५०–सृष्टि उत्पत्ति, कुरानशरीफ़ में लिखा है कि परमात्मा शब्द "कुन" बोला और सब कुछ होगया। अन्जील में आया है कि पहिले केवल शब्द था और 'शब्द' परमात्मा के साथ था। उससे संसार का प्रकाश हुआ।

मोक्षमूलर ने अपने वेदान्त के व्याख्यानों में दिखाया है कि अंग्रेजी शब्द 'वर्ड' संस्कृत धातु 'वृ' से निकला है-जिसके अर्थ बोलना है जिससे कि शब्द ब्रह्म बना है। यह ब्रह्म ही संसार का प्रथम आरम्भ है। गीता के अध्याय ८ का १३ वां श्लोक कहता है कि एक शब्द "ओ३म्" इस ब्राह्मण्ड को प्रकट करता है। अध्याय १४ के तीसरे श्लोक में कहा है कि महद् ब्रह्म मेरी योनी है जिसमें मैं बीज डालता हूं और इससे सब कुछ उत्पन्न होता है। मनुस्मृति में इसे अण्डे से उपमा दी है। इसी कारण से संसार को 'ब्राह्मण्ड' कहा जाता है।

अध्याय ३ के १४, १५ में आता है कि ब्रह्म से वेद, वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से मेघ, मेघों से धान्य और धान्य से प्राणी उत्पन्न होते हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्म दो भागों में विभक्त हुआ अर्ध मनुष्य और अर्ध स्त्री। त्वरेत में हव्वा का आदम के पार्श्व से उत्पन्न किया जाना इसी विचार को और शब्दों में वर्णन करता है।

पाप का आरम्भ ।

१५१–एक और बड़ा सिद्धान्त जो मत वालों और फिलौस्फरों को विस्मय में डालने वाला है वह पाप के आरम्भ का है। ग्रीक फिलौस्फी में इस सिद्धान्त पर बहुत से मत स्थापित हो गए थे। अन्जील और इस्लाम का विचार तो इस विषय पर एक ही है। उत्पत्ति की एक लम्बी कथा बनाकर पाप की विद्यमानता शैतान के शिर मढ़ दी जाती है। शैतान ने आदम को वन्दना करने से इन्कार किया उसे परमात्मा को आज्ञा न मानने के कारण से स्वर्ग से गिरा दिया गया तो वह मनुष्य को कुपथ पर ले जाने पर कटिबद्ध होगया। यहूदियों ने यह विचार प्राचीन एरानियों से लिया। वे लोग संसार में दो ईश्वर मानते थे। आहुर्मज़्दा (प्रकाश का देवता) और आहर्मन (तम का देवता) इस संसार में इन दोनों का युद्ध रहता है। एक भलाई करता है दूसरा पाप उत्पन्न करता है। यह मत आर्य सिद्धान्त से इस प्रकार मिलता है कि आर्य शास्त्र ब्रह्म को मान कर इस सर्व दुःख का कारण माया वा अज्ञान को मानते हैं जिसको पारसी लोगों ने ब्रह्म के मुकाबले पर एक अन्धकारमयी शक्ति बना लिया। यह माया ही आहर्मन का रूप बनकर शैतान की आकृति धारण कर लेती है। गीता के अध्याय ७ के १३, १४, १५ श्लोकों में कहा है कि यह संसार माया के तीन गुणों से ढांपा गया है। जो लोग इस माया में फंस जाते हैं। वे मुझे नहीं पहुंच सकते। मुझे वही पाते हैं जो कि इस मेरी माया को पार तरते हैं।

बलिदान का विचार ।

१५२–एक और सिद्धान्त विचारने योग्य बलिदान का है। यहूदी लोग आरम्भ से अपने परमात्मा को प्रसन्न करने के लिये प्राणियों का बलिदान देते हैं। इस्लाम भी बलिदानको वैसा ही आवश्यक मानता है। ईसाई बलिदान को आवश्यक समझते हैं, परन्तु वे यह मानते हैं कि समस्त मनुष्यों के शिर से बलिदान का भार दूर करने के लिये परमात्मा ने अपने एक ही पुत्र यसोह का बलिदान कर दिया। साधारण बुद्धि में तो यह बात नहीं आ सकती कि किसी प्राणी को मार देने से परमात्मा को क्या आनन्द प्राप्त होता है, वा वध करने का परमात्मा की प्रसन्नता से सम्बन्ध ही क्या हो सकता है? आश्चर्यता तो यह है कि इस उलटी रीति का चलना भी आर्यावर्त में वैसा ही दिखाई देता है जब कि आर्यों ने यज्ञ शब्द के अर्थों को उलटा रखकर प्राणियों का बलिदान भी यज्ञ का एक आवश्यक अंग मान लिया। यह नहीं कहा जा सकता कि यज्ञ के अर्थों में यह परिवर्तन कब और किस प्रकार के लोगों के निमित्त उत्पन्न हुआ। बहुधा वाममार्गी मत वालों पर यह आक्षेप दिया जाता है। गीता के अध्याय ३ के ९, १०, १२, १३ और चार के २६, २७ आदि श्लोकों में स्पष्ट परोपकार और बिना स्वार्थ कामों को यज्ञ नाम दिया है जिन से प्रकट है कि सब से बड़ा यज्ञ मनुष्य के लिये अपने अन्दर पशु प्रकृत (स्वार्थ) को मारना था। इन पुरुषों ने अन्दर के पशु को पालने के लिये बाहर के

पशु पकड़ कर मारना ही यज्ञ बना लिया। अध्याय तीन के १० वें श्लोक में कहा है "प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न करने के लिये स्वयं बड़ा यज्ञ किया। हे मनुष्यो! तुम भी इस यज्ञ द्वारा फूलो, फलो।"

प्रकृति के विरुद्ध बातों पर विश्वास।

१५३–मतों के अन्दर अलौकिक क्रियायें, चमत्कार, भविष्द्वाद इत्यादि प्रकृति के नियम के विरुद्ध बातें, धर्म के सत्य का प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। इस से केवल इतना ही प्रकट होता है कि अधिक संख्या मत पर विश्वास करने वालों की ऐसी होती है जिन के मस्तिष्क में अभी सत्य और असत्य जांचने की शक्ति उत्पन्न नहीं हुई। प्रथम तो वे प्रत्येक सुनी सुनाई कथा पर तत्काल विश्वास ले आते हैं। उनको यह विचार नहीं आता कि क्योंकि संसार में इतना अनृत बोला जाता है सम्भव है कि वर्णन करनेवाला असत्य बोलता हो क्यों कि लोगों की बुद्धि अत्यल्प है। सम्भव है उस की नेत्रों ने अथवा बुद्धि ने धोखा खाया हो। क्योंकि कई पुरुषों की विचार शक्ति बड़ी तीव्र होती है सम्भव है वह अपने विचार को ही घटनाओं के रूप में बताता हो। सब से बढ़कर यह सम्भव है कि उस को बताने वाला उसे धोखा देता हो। जब एक ऐन्द्रजालिक हमारे सम्मुख ऐसी बातें करता है तब तो हम उसे अपनी दृष्टि का धोखा में आना समझ लेते हैं। परन्तु एक पुरुष धार्मिक बातें करने वाला आश्चर्य की

बात करता है तो वह हमारे लिये बड़ा चमत्कार हो जाता है। जब मूसा ने मिश्र के राजा के सामने चमत्कार किये तो वहां के पण्डितों ने राजा को बता दिया कि यह साधारण हस्त क्रियायें थीं जिन को वे भी कर सकते थे। दूसरी बात उन के अन्दर परस्पर मेलाप और छल कपट होता है। यथा खेल तमाशों में तमाशा करने वाला किसी न किसी पुरुष को अपने संग मिला लेता है जिस से प्रत्येक चमत्कार और भविष्द्वाद सफल हो सकता है। उदाहरणतया जब कहा जाता है कि मसीह कबर फाड़कर आकाश को उड़गया, प्रमाण यह कि एक दो वृद्धा स्त्रियों ने देखा। इन दो स्त्रियों की साक्षी एक ओर है और एक असम्भव बात दूसरी ओर। धार्मिक नेता इस बात का बड़ा विचार रखते हैं कि वे यह सब कार्य इन पुरुषों द्वारा कराते हैं जिन की बुद्धि पर ज्वनिका डाल दी जाती है और वे स्वयं साधारण पुरुषों के साथ साक्षात् सम्बन्ध में नहीं आते। एक बात कही जाती है जो स्मरण रखने योग्य है, कुछ मनुष्यों को सदैव धोखा में रखा जा सकता है। सब को कुछ काल के लिये धोखा दिया जा सकता है। सब को सदा के लिये धोखा में रखा नहीं जा सकता।

संस्कार।

१५४–धर्म के साथ मिली हुई एक वस्त केवल संस्कार हैं जो कि जीवन में परिवर्त उत्पन्न करने की शक्ति रखते हैं। एक पाषाण जंगल में पड़ाहै उस का कोई मूल्य नहीं।

जब उसे लाकर मार्ग पर डाल दिया जाता है उसकी सत्ता बदल जाती है। उस पर थोड़ा काम करके जब गृह के अन्दर लगा दिया जाता है तो वे एक लाभकारी वस्तु बन जाती है। जब उस को ठीक काट कर उस की एक सुन्दर मूर्ति बना ली जाती है तो मनुष्य उस को प्रणाम करना आरम्भ कर देते हैं। पाषाण में यह परिवर्तन संस्कार के कारण से उत्पन्न हुए हैं। प्रत्येक मत ने विशेष २ रीतियां तथा संस्कार माने हैं। आर्य्यों की समाज में वर्ण की रीति आरम्भ से आती है। जैसा कि गीता में कहा है कि यह वर्ण मुझ से बने हैं जिन में प्रत्येक मनुष्य अपने २ कर्म के अनुसार विशेष वर्ण में प्रविष्ट होता है। वर्ण-धर्म पर अध्याय १८ के ४१, ४२, ४३, ४४ श्लोकों में अत्यन्त उत्तम शिक्षा मिलती है। इस के अतिरिक्त यूं तो सोलह संस्कार हैं परन्तु इनमें चार बड़े हैं। पहला गर्भाधान है जो कि स्त्री पुरुष के संयोग के समय वेद मंत्रों द्वारा होना चाहिये यह स्पष्ट करता है कि वह कर्म भोग की इच्छा से नहीं किन्तु सन्तानोत्पत्ति धर्म समझकर किया जारहा है ताकि जो सन्तान हो वह विषय भोग का परिणाम न हो किन्तु धर्मका फलहो दूसरा बड़ा संस्कार यज्ञोपवीत का गुरु केपास जाने के समय किया जाता था। यह एक नया जन्म था जब कि बालक विद्या आरम्भ करता था। तीसरा विवाह संस्कार विद्या समाप्त करने के पश्चात् गृहस्थ में प्रविष्ट होते समय किया जाता था। चौथा अन्त्येष्टि संस्कार था जिस में कि मृतक शरीर औषधि सहित भस्म कर दिया जाता था। आधुनिक वैद्यशास्त्र और स्वास्थ्य विद्या ने यह स्पष्ट

कर दिया है कि मृतक शरीर को भस्म कर देना ही उस को नष्ट कर देने की अत्युत्तम रीति है। पाश्चात्य देशों के नगरों, कबरस्थानों की संख्या इतनी अधिक हो गई है कि स्वास्थ्य के लिये बड़ा भय सिद्ध हो रहा है और साधारण सम्मति मृतक शरीर को भस्म कर देने के पक्ष में हो रही है।

१५५–समस्त धार्मिक सिद्धान्त आरम्भ में एक से ही हैं। उन को मानने की रीति के लिये दो बड़े दल स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। एक तो सैमेटिक समूह जिनके विचार यहूदी जाति की कुल कथाओं और उन के अपने कुल परम्परा के क्रम पर निर्भर हैं। यहूदी लोग अपने कवियों को जिन को वे सिद्ध कहते हैं विशेषतया अपना समझते हैं। अन्य पुरुषों को कदापि अपनी जाति में प्रविष्ट न करते थे। आश्चर्य का स्थान है, एक जाति की कथाओं को (पुरातन संसार में प्रत्येक जाति की अपनी २ कथाएं होती थीं) ईसाई और इस्लामी संसार ने समस्त मनुष्यों के लिये ठीक मान लिया है। इस के मुकाबले पर केवल आर्यजाति है जिस ने प्राचीन आर्यजाति की सभ्यता को बचा रखा है। सब से पूर्व तो उन को बुद्धमत के प्रति युद्ध करना पड़ा। एक सहस्र वर्ष पर्यन्त उनका परस्पर संग्राम रहा। कुमारल भट्ट और शंकराचार्य के यत्नों से वैदिक धर्म की विजय हुई, इस कारण से कि बुद्धमत में कोई नयी बात न थी। उन का सब कुछ प्राचीन सभ्यता से लिया गया था। ज्यूं ही वे उस से निवृत हुए आर्यधर्म को इस्लाम की तरंग से युद्ध करना पड़ा। इस्लाम की

एक तरंग अफ्रीका से होकर हरिवर्ष को गई और दूसरी इधर मिश्र ईरान, अफगानस्थान को विजय करती हुई आर्यावर्त में आई। यह संग्राम कोई आठ सौ वर्ष लों प्रचलित रहा जिस में पंजाब ने धर्म को रक्षा अपने ऊपर ली। लाहौर नगर सदा के लिये स्मरण रहेगा जिसमें वह एक चने बेचने वाला बालक उत्पन्न हुआ, जिसका पुत्र गुरु अर्जुन और पौत्र हरगोविंद जैसा ज्ञानी और वीर था। उसका ऐश्वर्य आगे गुरुतेग़बहादुर और गुरु गोविंद में हुआ। शताब्दियों से बहती हुई आक्रमणों की नदियों को रोकने की प्रतिक्रिया गुरु तेग़ बहादुर ने 'बलिदान' बताई। उसी पर कार्य करके गुरु गोविन्द ने चिड़ियों को बाज़ बना दिया। गुरु गोविन्द ने अपने पिता के बलिदान को अत्युत्तम शब्दों में वर्णन किया।

"कीनो बड़ो कलु में साका,
तिलक जञ्जू राखा प्रभु ताँका"।

कई लोग एक दो दृष्टान्त बताकर यह सिद्ध करते हैं कि आर्य्यों ने गुरुओं से द्रोह किया। गुरुओं ने आर्य्यों के अन्दर कार्य किया। यह प्रकृतिक बात है कि उन के मित्र और शत्रु इस समाज में से निकले। उनकी अपनी संतान में से भी उनके कठोर विरोधी उत्पन्न हुए। इसी देश के अन्दर तत्काल पश्चात् ईसाईमत अपना सब बल और बुद्धि लिये आ उपस्थित हुआ ताकि अकेली प्राचीन सभ्यता का नाश करे। दलितश्रेणी जातियों की सारी उन्नति ईसायत की सहायता में काम करती है और संग्राम जारी है।

आत्म-स्वतंत्रता ।

दैव और पुरुषार्थ ।

१५६–दैव और पुरुषार्थ का सिद्धान्त बड़ा गूढ़ और कठिन है। इस विषय पर प्राचीन काल की और आधुनिक फिलौस्फी में इस्लाम और ईसाई मतों में बहुत कुछ लिखा गया है। जहां पर ईसाई मत के साधारण सम्प्रदाय मनुष्य को काम करने में स्वतंत्रत मानते हैं। वे प्रसिद्ध परिवर्तक कैलविन के अनुयायी निर्देस पर विश्वास रखते हैं।

इस्लाम का बड़ा भाग "सुन्नत वालों" का विश्वास दैव पर है। शैय्या लोग मनुष्य को काम करने में स्वतन्त्र मानते हैं। सन्सार के दो बड़े सेनापति सीजर तथा नेपोलियन दैव के मानने वाले थे। जब नैपोलियन पर प्रश्न किया गया कि जब तुम दैव पर विश्वास रखते हो तो इतना काम और इसका उपाय क्यों करते हो उसने उत्तर दिया कि सब मेरा दैव कराता है। मैं विवश हूं। फिर भी मनुष्य के हृदय में एक विचार है जो कि काम करते समय सदैव उसे प्रतीत कराता है कि करने वाली उत्तर दाता शक्ति में "मैं" ही हूं।

मनुष्य बद्ध और स्वतंत्र दोनों है ।

१५७– आर्यशास्त्रों में कहा है कि मनुष्य बद्ध और स्वतन्त्र दोनों है। कर्म के तीन भाग बताए हैं। एक तो वे

कर्म जो हम ने अथवा हमारे सम्बन्ध में दूसरों ने किये हैं और जिन का फल भोगने के लिये हम बद्ध और कैद हैं। इसे प्रारब्ध का नाम दिया है। दूसरे कर्म क्रियामान हैं जो किये जाने पर ही अपना फल देते जाते हैं। तीसरे कर्म सञ्चित होते हैं जो हम करते हैं और जिन का फल एकत्रित रहता है। अपने २ समय पर आ कर प्रकट होता है। भीष्मपितामह से यह प्रश्न किया गया कि दैव बलवान है वा पुरुषार्थ, तो उस ने बड़ा गूढ़ उत्तर दिया कि ध्यान देने पर विदित होगा कि दोनों वास्तव में एक ही हैं। दैव केवल गुप्त शक्ति का नाम है और पुरुषार्थ उस का एक प्रत्यक्ष रूप है।

एक पुरुष ने सुना कि परमात्मा मनुष्य को जहां पर वह हो जीविका पहुंचा देता है। वह यावनधर्म मन्दिर के अन्दर जा कर एक गहरी गुहा में तीन दिन रात्रि छुपा बैठा रहा। चौथी रात्रि भूख से मरने लगा। जब सब लोग उठकर चलेगए तो वह दुःखित हुआ २ उठा। उस का शिर चटाई से लगा और वह हिली। मुल्लां दौड़ा आया और देखा कि गुहा में एक मनुष्य है। उसे बाहिर निकला और अन्नपान दिया। इस पर वह कहने लगा, परमात्मा जीविका पहुंचाता तो है किन्तु इस के साथ चटाई हिलाना भी आवश्यक है।

——:o:——

मनुष्य पर प्राकृति के नियमों का प्रभाव।

१५८–हमारी प्रारब्ध तीन बड़े अङ्गों से संयुक्त है। इनमें से एक तो प्रकृति के नियम हैं। हम मानव देह में हैं यह हमारी

प्रारब्ध है। इस पर हमारा कोई वश नहीं। मानव शरीर की शक्तियां परिमित हैं। हम सब ओर से प्रकृति से घिरे हैं। हम इन का मुकाबला नहीं कर सकते। हम कितनी ही इच्छा करें और चेष्टा करें हम अपनी शक्तियों को अपरिमित नहीं बना सकते। हम चाहें तो हमजड़ नहीं सकते। हम अग्नि में हाथ डाल नहीं सकते। तैरना न जान कर गंभीर जल में नहीं जा सकते। हमारी आयु विशेष सीमा से नहीं बढ़ सकती, हम मट्टी अथवा पाषाण खाकर जीवन का निर्वाह नहीं कर सकते। विशेष घटनाओं के होने पर हमारा शरीर रोगों से पीड़ित हो जाता है। एक बार कर्म करके उस का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। थोड़ा, अधिक, इच्छानुकूल न खाने से बद्धकोष्ठ अवश्य होता है। व्यायाम न करने पर शरीर दुर्बल तथा आलस्य शील होता है।

——:o:——

दाय भाग का प्रभाव।

१५६–दूसरा अङ्ग हमारा दायभाग है। यह हमारी पैतृकरिक्थ प्राप्ति है। इस दाय भाग में केवल शारीरिक रोग ही किन्तु सदाचार के गुण भी बहुत इस में पाए जाते हैं। हमारे स्वभाव और व्यवहारों में बहुत सा भाग हमारे माता पिता का होता है। इसी कारण आर्यशास्त्र गर्भाधान संस्कार आवश्यक बतलाते हैं, और साथ ही माता के लिये इच्छानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सन्तानोत्पत्ति के लिये विशेष उपदेश करते हैं।

आयुर्वेद की उन्नति से यह बात सिद्ध हो गई है कि हमारे लग भग समस्त नस रोग पैतृक होते हैं। इसी आधार पर अमेरिका की कई रियास्तों में यह नियम बनाने की रीति आरम्भ कर दी गई है कि उन्मत्त तथा पागलों की संख्या भविष्य जाति में रोकने के लिये ऐसे पुरुषों की सन्तानोत्पत्ति करने की शक्ति को नष्ट कर दिया जाता है।

——:o:——

परिस्थिति।

१६०–तीसरा अंश परिस्थिति का है जिसे आङ्गल भाषा में 'Invironments कहा जाता है। एक जापानी बालक क्यों विशेषतया जापानी प्रतीत होता है? उस का रूप तथा रंग क्यों जापानी है? वह जापान से क्यों प्रेम करता है? क्यों जापान के लिये जीविति रहना तथा मरना मान समझता है? केवल इस लिये कि उस की परिस्थितियों ने उसे ऐसा बनाया है। उस ने स्वतंत्रता से सोच विचार करके इस बात को अच्छा नहीं माना है। हमारा जीवन और हमारे मस्तिष्क की रचना में हमारी भूमि, हमारा समाज, हमारी गवर्नमिएट तथा दूसरी संस्थाओं का बड़ा भाग होता है। हम एक विशेष देश में उत्पन्न होते हैं। उस का जल वायु, भोजन और भाषा विशेष प्रकार की है। एक विशेष जाति में उत्पन्न होते हैं जिन की इतिहास, धर्म तथा रीतियां विशेष प्रकार की हैं। हम विशेष समाज में उत्पन्न होते हैं जहां बाल्यावस्था की शिक्षा को विशेष ध्यान से देखा जाता है और जिस में

विशेष रीतियां प्रचलित हैं। इन सब बातों पर हमारा कुछ अधिकार नहीं।

हरबर्ट स्पैन्सर ने धार्मिक दृष्टि से परीक्षा करके यह परिणाम निकाला है कि जो असभ्य जातियां सर्वथा सरदारों के शासन के नीचे रहती हैं वह भय के कारण से स्तुतिमयी, झूठी और छली होती हैं। जिन के ऊपर कोई ऐसा सरदार नहीं होता वे स्वतंत्रता में रहकर निर्भय और छल रहित होती हैं। ऐसी ही दशा पाठशाला में बालकों की है। शिक्षक मारने वाला और भयभीत करने वाला हो तो बालक स्वभावतः झूठे हो जाते हैं। प्रेम करने वाला शिक्षक होने से वे सत्यवादी और अकुटिल होते हैं। सब गुणों तथा सद्भावों की मान वीरता है, जो कि बुरी परिस्थितियों के अन्दर कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। निर्धनश्रमी आयरलैण्ड वा इटली में रहते हुए वैसे के वैसे दरिद्री और दबे रहते हैं। वही नीच समझे हुए मनुष्य जब अमेरिका की भूमि पर पैर रखते हैं एक मास व्यतीत नहीं होता उन का रहन सहन बदल जाता है। वे अपने आप को राजा के समान समझने लग जाते हैं।

स्वतंत्रता क्या है ?

१६१–गीता के अध्याय तीन के २६, २७, २८ में और अध्याय पांच के ७, ८, ९ श्लोकों में, १३ अध्याय के २९, १४ के १९ और अध्याय १८ के ५९, ६० में कहा है कि जैसे नदियां समुद्र की ओर बहती हैं और पतंगा दीपक के प्रकाश

पर आकर मर जाता है वैसे यह सब योद्धा अपने नाश के लिये मेरे मुख में आ रहे हैं। हम कर्म करने वाले नहीं परन्तु प्रकृति अपने गुण फैलाती है। यह गुण गुणों में वर्तते हैं। जिनसे यह खेल चल रहा है। १८ वें में, "हे अर्जुन! तुम युद्ध से कभी हट नहीं सकते। तुम्हारा स्वभाव ही तुम से युद्ध करायेगा।" कहा है:—

गीता जहां पर सब मनुष्यों को प्रकृति के अन्दर बंधा हुआ बताती है वहां तीन अध्यायके १६, ५५ श्लोकोंमें बताया है कि फल कीइच्छा त्याग कर देनेसे ज्ञानी वास्तविक स्वतन्त्रता कोप्राप्त करताहै, इस लिये तुम इस कर्म में बिना चित्त फंसाने के लग जाओ। अध्याय ४ के १४, १६ श्लोकों में कहा है कि इन कर्मों का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं होता। जो मुझको जान लेता है वह भी कर्म के फन्दे से बच जाता है और जैसे अग्नि बीज में आगे उगने की शक्ति को नष्ट कर देती है ऐसा ही ज्ञान कर्म के अन्दर फैलने की शक्ति मार देता है जिस मनुष्य में यह कर्मरूपी बीज भस्म हो गया हो वही कर्म के फन्दे से मुक्त हो कर स्वतन्त्र हो सकता है।

सर्वज्ञता एक और कष्ट उत्पन्न कराती है।

१६२—जो लोग ईश्वर को सगुण मानते हैं उनके सम्मुख एक और बड़ा कष्ट आता है। ईश्वर के गुणोंमें सर्वज्ञ होना एक बड़ा गुण गिना जाता है। इस गुण ने चिरकाल से मत वालों के मध्य में हल चल मचा रखी है। वह इस

प्रकार कि यदि परमात्मा सर्वज्ञ है तो उसे होने वाली सब बात का ज्ञान है। जो कर्म इस लिए हम भविष्य जीवन में करेंगे वह भी इसके ज्ञान में आ जाते हैं। इस लिए जिस वस्तु का इस समय कोई अस्तित्व नहीं वह आगे से उस के ज्ञान में सत्ता रखती है। यदि यह किसी मनुष्य का ज्ञान होता तो निस्सन्देह उसका प्रभाव हमारे भविष्य उन कर्मों के करने वा न करने पर कुछ नहीं पड़ सकता था, किन्तु ईश्वर का ज्ञान अटल और अशुद्धि से रहित है अर्थात् जो उसके ज्ञान में विद्यमान है वह अवश्य होगा। इस अवस्था में मनुष्य सर्वथा परतन्त्र हो जाता है। यह कहना कि ईश्वर केवल उसी को जानता है जो हम अपनी स्वतंत्रता से करेंगे, दो विरोधी बातों को एक स्थान में करना है। यदि हम कर्म अवश्य करेंगे तो उसे 'स्वतन्त्रता से करना' सर्वथा निरर्थक है। यदि मनुष्य सर्वथा परतंत्रता से कर्म करता है तो उसके लिये पुण्य और पाप के कुछ अर्थ नहीं रहते। मत वाले दोनों ओर से बड़ी कठिनता में पड़ जाते हैं। इसका कोई साधन उन्हें नहीं मिलता। वास्तविक बात यह है कि हमें ईश्वर की सत्ता (वह क्या है?) और उसके गुणों का सर्वथा ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए उनको विचार में लाना वा उन पर वादविवाद करना हमारी शक्ति से बाहर है। हम अपने मन से विशेष गुण उसके अन्दर डाल कर अपने लिये कष्ट उत्पन्न करते हैं। स्वामी शंकराचार्य कहतेहैं कि ज्ञान के लिये ज्ञाता औरज्ञेय दोकी आवश्यकताहै ब्रह्म दृष्टि से एकही आत्मा है अतःज्ञेय के न होने से ज्ञान का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। गीता

के १३ अध्याय के १७ वें श्लोक में भी यह विचार पाया जाता है कि "मैं ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान हूं।"

११ अध्याय के ४० वें श्लोक में कहा है कि "तू सब में है। इस लिए सब तूही है।"

ईश्वर को सर्व व्यापकता का क्या अभिप्राय है? जो वस्तु सर्व व्यापक है वही सर्व है। अन्य २ के अन्दर वह है। क्या कुछ हो सकता है जिसमें वह न हो। यदि कुछ नहीं तो सब वह है। यह गुण हमारे लिये बड़ी कठिनता उत्पन्न कर देते हैं।

परिस्थिति की दशा पर ध्यान दृष्टि।

१६३–यदि सामाजिक और परिस्थिति की दशा को ध्यानदृष्टि से देखा जाए तो उनके अन्दर भी मानव स्वतंत्रता का बड़ा अंश मिलता है। प्रथम तो समाज भिन्न २ मनुष्यों का संग्रह है और यदि सामाजिक और परिस्थिति की दशायें मनुष्य के बनाने में बड़ा प्रभाव रखती हैं तो इस के अर्थ यही हैं कि समाज का प्रत्येक सभासद भी इस सामाजिक संघठन में प्रविष्ठ हुआ २ शेष सारे दूसरों पर अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रभाव का परिणाम थोड़ा हो या बहुत बड़ा हो, प्रत्येक सभासद की आत्मकीय सत्ता पर निर्भर है। मनुष्यों के उदाहरण हैं जो कि दासों के समाज में उत्पन्न हुए और उन्हों ने अपने समाज से दासत्व के प्रभाव को दूर कर दिया। एक २ मनुष्य का स्वार्थ वा द्वेष वा उनके प्रति बलिदान ने इस जाति के

भविष्य इतिहास को सर्वथा पलट दिया है। रघुनाथराओ की स्त्री नन्दोबाई के द्वेष ने जयचन्द की नाईं मराठा राज्य में नाश उत्पन्न कर दिया। लूथर स्वयं साधारण तपस्वी था। उसे बाईबल की प्रति पढ़ने के लिये मिल गई। उस ने कैथेलिक चर्च के विरुद्ध संशोधनात्मक क्रिया की नींव डाली और एक बार चर्च को जड़ों से हिला दिया। स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा करने वाले ब्राह्मणों के गृह में उत्पन्न हुए। शिव रात्रि को रात्रि को मूषकों ने शिव की मूर्ति का अपमान किया। इस घटना का स्वामी जी के हृदय पर वह प्रभाव हुआ कि उसने आर्य जाति में परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। यही नहीं, किन्तु यदि एक साधारण पुरुष धर्म के लिये अथवा पाप के लिये दण्ड पाता है उसके कुल, मित्रों तथा व्यवहार संबंधी कार्यों पर कई ओर से प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य अपने समाज और परिस्थिति की दशायें जब चाहे बदल सकता है।

दायभाग ही सब कुछ नहीं।

१६४-यदि दायभाग तथा अवस्थायें ही सब कुछ हों तो संसार में सर्व स्थान पर हमें इतना विरोध क्यों दृष्टि-गोचर होता है। एक ही माता पिता के गृह में दो बालक एक ही अवस्था के अन्दर उत्पन्न होते हैं, किन्तु वह रङ्ग, रूप, मस्तिष्क में एक दूसरे से विभिन्न होते हैं। दो वृक्षों का बीज भूमि पर गिरता है। एक उसमें से मिठास के अंश लेकर मधुर फल उत्पन्न करता है। दूसरा उस भूमि

से भोजन लेकर विषमय फल उत्पन्न करता है। एक ही वृक्ष के दो बीज भूमि पर पड़ते हैं। दोनों से भिन्न २ रूप के और परिमाण के वृक्ष बनते हैं। यदि केवल अवस्था और उत्पत्ति के अनुसार ही संसार चलता तो थोड़े विशेष जोड़ों से उत्पन्न हुए मनुष्य अथवा दूसरी योनियों में इतना विरोध कहां से आता कि कोई भी दूसरे से मिलता नहीं दीखता। परिणाम यह है कि पैतृक प्रभावों के होते हुए भी एक प्राणी का वर्ग एक पृथक् मनुष्यत्व रखता है और वही मनुष्यत्व माता पिता से और परिस्थियों की दशा से विशेष प्रभाव अपने अन्दर निगीर्ण करता है। यह मनुष्यत्व ही उस की प्राकृति है। यही उसका स्वभाव है।

——:o:——

बुद्धि वा विचार की विद्यमानता स्वतंत्रता का चिन्ह है।

१६५–बाह्य प्रकृति के देखने से प्रतीत होगा कि वनस्पतियों के अन्दर मन, बुद्धि आदि का कोई चिन्ह नहीं मिलता। प्राणीवर्ग में आकर जहां कि इन्द्रियों को पर्याप्त उन्नति हो चुकी है हम मन और बुद्धि का आरम्भ पाते हैं। बुद्धि यहां केवल स्वभाविक ज्ञान की अवस्था है अर्थात् जो कर्म प्राणी करते हैं वे स्वभाव से बंधे हुए करते जाते हैं। जब किसी वनपशु को एक हानिकारक पदार्थ खाने से कष्ट होता है तो वह बिना वैद्यशास्त्र जाने हुए स्वभाविक ही इस की प्रति क्रिया कर लेता है। पशुओं को

ब्रह्मचर्य के लाभ बताने की आवश्यकता नहीं। इनके अन्दर पुरुष स्त्री के संयोग की इच्छा निश्चित-समय के बिना कभी उत्पन्न ही नहीं होती। परन्तु जब हम उन्नति पशुओं यथा कुत्ता, गज तथा वानरकी दशाको देखते हैं तो उनके अन्दर सोच विचार के थोड़ेसे चिन्ह पाये जाते हैं। मनुष्य की दशामें आकर स्वभाविक स्वभाव बुद्धि का रूप धारण कर लेता है। बुद्धि के अर्थ ही विचार के हैं और विचार के साथ अच्छा अथवा बुरा, लाभकारी अथवा हानिकारक की परीक्षा करना आवश्यक है। यदि मनुष्य को किसी कार्य को विचार करके करने अथवा न करने का अधिकार न हो तो उसके अन्दर बुद्धि का होना कुछ अर्थ ही नहीं रखता। जब बुद्धि इन्द्रियों के वश में हो कर चलती है तो पुरुष प्रकृति का दास होने के कारण से स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। इस लिये १३ के ३० श्लोक में कहा है कि पुरुष का प्रकृति के उन गुणों के साथ बंधा हुआ होना ही जीव के जन्म मरण के बन्धन का कारण है। परन्तु जब "बुद्धि युक्त" हो कर व्यवसाय आत्मिक बुद्धि जिस का अध्याय दो के ४१ आदि में वर्णन है प्राप्त कर लेता है तो वह प्रकृति के गुणों से ऊपर हो कर उस पर अपना वश पा लेता है।

——:o:——

मनुष्यों के दो भेद।

१६६–मनुष्यों के दो भेद हैं। साधारण पुरुष तो सहनशील अवस्था में देखे जाते हैं। विशेषतया जिन देशों में

स्वतंत्र विचार बहुत न्यून हैं वहां सब लोग नदी के प्रवाह के साथ तृणों के सदृश बहे जाते हैं। मनुष्य की उन्नति का मार्ग यह है कि सब मनुष्यों में प्रत्येक बातपर सोचनेकी शक्ति उत्पन्न हो। स्वयं सोचने वाले मनुष्यको उद्योगी कहा जा सकता है। मनुष्यके हृदय के दो भाग हैं। एक इष्ट दूसरा स्वभाविक। इष्टहृदय केवल जागृत अवस्था में काम करता है। दूसराप्रत्येक अवस्थामें स्वप्न अवस्थाहो अथवा जागृत। रात्रिके स्वप्न इसी हृदय के कार्य हैं। यह बानर के सदृश विचारों के एक क्रमसे दूसरोंपर दौड़ जाता है। इसेआङ्गल भाषा में Law of association of Ideas. विचार क्रम माला नियम) बोलते हैं। यदि रात्रि को सोते समय हम चित्त में कह दें कि प्रातःकाल चार बजे जगा देना। यह आश्चर्य प्रतीत होगा कि लग भग निश्चित समय पर उठाने का शब्द अन्दर से आ जाता है। जिन का हृदय और भी बढ़ा होता है वे अधिक प्रभावशील होते हैं। ऐसे लोग हिरनाटिज्मपें अच्छेपरिग्राही बन सकतेहैं और हिरनाटिज्म कि चिकित्सा विधि (झाड़ वा मन्त्र जन्त्र इत्यादि) ऐसे लोगों के लिये लाभ कारी पाया गया है। इनके ऊपर दूसरे के व्याख्यानों तथा उपदेशों का प्रभाव अधिक होता है। ऐसे पुरुष केवल अच्छे सिपाही वा शिष्य बन सकते हैं। इन के अन्दर अपना मार्ग बनाने की शक्ति न्यून होती है। दूसरे प्रकार के मनुष्यों में इष्टहृदय बल वाला होता है। जहां यह अधिक हो वहां प्रत्येक समय वा कठिनता पर नेता उत्पन्न होने में न्यूनता नहीं रहती। इस मार्ग पर चल कर मनुष्य चित्त पर विजय प्राप्त कर सकता है।

अपने चित को जीतते हुए वह दूसरों पर भी विजयी हो सकता है। परिस्थितियां इसे परिवर्तित नहीं करतीं। वह परिस्थितियों को परिवर्तित करता है। वह महापुरुष कहलाता है।

गीता के अध्याय चार का ४० वां श्लोक बताता है कि जिस पुरुष का मन अज्ञान तथा संशय में फंसा है वह नाश को प्राप्त होता है। इसके लिये न इस संसार में सुख है न दूसरी में। ४१ श्लोक में कि जिसने कर्म योग से कर्मों को जीत लिया है और ज्ञान से संशय को छिन्न भिन्न कर दिया है। वही आत्मवित्त है और वह कर्मों के बन्धन में नहीं फंसता।

हमारा संसार हमारे चित्त का प्रतिबिंब है।

१६७–इसी प्रश्न को हम एक और दृष्टि से भी देख सकते हैं। बाह्य संसार मनुष्य के अपने मन का प्रतिबिंब है। विज्ञानवादी इसे Objectivised thought कहते हैं, अर्थात् मन से सब रूप बनाना। सब संसार हमारे मन के आंदोलन से बना है, जैसे सब रंग सूर्य्य की रश्मियों के प्रतिबिंब हैं। विज्ञान बताता है कि रंग वास्तव में कोई पदार्थ नहीं। प्रत्येक पदार्थ पर सूर्य्य रश्मियां डालता है। रश्मियों की तरंगों से सब रंग हैं। वह पदार्थ कुछ तरंगों को निगीर्ण कर लेता है और शेष लौटा देता है। सर्व प्रकार की तरंगें निगीर्ण कर लेने पर काला रंग उत्पन्न होता है और सब ही लौटा देने पर श्वेत दिखाई देता है।

सर्वथा स्वार्थी पुरुष कृष्ण वर्ण के और परमार्थी श्वेत वर्ण के समान कहे गए हैं। जैसा मनुष्य होता है उसे वैसा ही संसार दृष्टिगोचर होता है। एक अदानशील धनाढ्य को सब लोग लोभी दिखाई देते हैं। "भूखे से किसी ने पूछा, दो और दो। उस ने उत्तर दिया चार रोटियां" सरल हृदय मनुष्य सब को निष्कपट समझ कर विश्वास करता है। एक शाला शीशों की बनी हुई है। एक कुत्ते को अन्दर ले जायें, इधर उधर जहां वह दृष्टि डालता है उसे कुत्ते ही कुत्ते दिखाई देते हैं। वह अपने स्वभाव के अनुसार सब को भौंकता है और शीशों को काटता है। इसी प्रकार वाह्य प्रकृति कुछ हो हम अपने संसार को अपनी विचार शक्ति से बनाते हैं। जो पुरुष अपने भृत्य वा संगी पर विश्वास नहीं करता वह उन को कपटता सिखाता है। जूं २ नियम अधिक कुटिल होता जाता है लोग उतने ही अधिक चतुर और धूर्त होते जाते हैं। यदि हम अच्छे विचार बाहिर भेजेंगे तो बाहिर से अच्छे विचार हमारे अन्दर आयेंगे। संसार में क्रिया तथा प्रतिक्रिया का सिद्धान्त काम करता है। पर्वत के समीप शब्द करने से वैसा ही शब्द सुनाई देता है यदि एक सर्वथा बन्द कमरे में कुछ स्तारें एक स्वर करके रख दी जायें और एक को बजाया जाये तो शेष स्तारें भी उसी स्वर से बजने लगेंगी। हम स्वमेव अपनी शक्ति तथा निर्बलता को उत्पन्न करने वाले हैं। जिस क्षण में हम निश्चय कर लें तत्काल हमारा मार्ग स्पष्ट हो जाता है। गीता के ९ अध्याय का २९, ३० श्लोक अतिनीच और पापी को भी यही आशा दिलाता है।

धर्म्म अधर्म समीक्षा।

परमात्मा की ओर से उपदेश।

१६८–धर्म और अधर्म का सिद्धान्त ऐसा सुगम और सरल नहीं जैसे कि साधारणतया विचार किया जाता है। कई भिन्न २ विधियों से इस प्रश्न की व्याख्या करने का यत्न किया गया है। मतों पर विश्वास रखने वाले तो इस का निश्चय परमात्मा पर छोड़ देते हैं उन का विचार है कि परमात्मा अपने नियम लोगों के उपदेश के लिये विशेष पुस्तक द्वारा प्रकट कर देता है। उन को मानना धर्म है और न मानना अधर्म है। यदि एवं इस विचार को स्वीकार किया जावे तो बड़ा कष्ट यह होता है कि भिन्न २ भाषाओं तथा भिन्न लोगों के लिये परमात्मा ने विरोधी उपदेश क्यों प्रचलित किये और यह निश्चय कैसे किया जावे कि कौन से उपदेश ठीक हैं? इस काल में भी ऐसे लोग हैं जो अपने आपको पैगम्बर कहते हैं और जो अपने२ पुस्तक मानने के लिये उपस्थित करते हैं। यह कैसे निश्चय हो कि इन पैगम्बरों में कौन सच्चा और झूठा है? इस के अतिरिक्त उस मनुष्य भाग का क्या हुआ जिन को अभी लों कोई पुस्तक नहीं मिली। इस पर भी उन के मध्य में धर्म्म के विषय में बहुत विरोध पाया जाता है। कई ऐसे असभ्य समूह हैं जिन के अन्दर प्रेम का चिन्ह मात्र भी नहीं है। वृद्धों, बालकों, निर्बलों तथा रोगियों को अवश्य-

कता पड़े तो मार कर भक्षण कर लिया जाता है। कई ऐसी जातियां हैं जो अपने कन्या के ब्रह्मचर्य को स्थित रखने के लिये उत्पन्न होते ही उस के गर्भ स्थान को सी देते हैं और विवाह के समय खोलते हैं। कई ऐसे हैं जो कि इसके विपरीत कन्या के विवाह से पूर्व उस से बालक उत्पन्न करने की परीक्षा करालेना आवश्यक विचार करते हैं। इन सब विचारों को विरोध का भार किस के शिर पर डाला जा सकता है?

अभ्यंतर शब्द क्या है?

१६६–इसी प्रश्न की दूसरी बड़ी व्याख्या अभ्यंतर शब्द अर्थात् आत्मा को बताया जाता है, यद्यपि यह साधारण परीक्षा की बात है कि आत्मा हमारा सामाजिक शिक्षा और परिस्थिति का परिणाम है। प्रत्येक पुरुष का आत्मा दूसरे से विभिन्न होता है। एक पुरुष के लिये जिसका इस्लामी समाज के अन्दर पालन पोषण हुआ है किसी प्राणी का वध आत्मा के विरुद्ध प्रतीत नहीं होता, परन्तु एक जैनी बच्चा अपने शरीर की जूयें वा मंजे के खटमल मारना भी सहन नहीं कर सकता। अभ्यंतर शब्द केवल एक प्रकार का प्रतिशब्द होता है जो कि हमारे एकत्रित किये हुऐ संस्कारों से उत्पन्न होता है। जैसे संस्कार होंगे उसी प्रकार की आत्मा होगी। स्वयं यह कोई विशेष सत्ता नहीं रखती। जो असभ्य जातियां फीजी आदि टापुओं में अपने रोगी माता वा पिता को मार कर खा जाती हैं उन की आत्मा उन्हें कुछ नहीं कहती।

लोक-सम्मति का स्थान।

१७०–तीसरा प्रमाण इसको निश्चित करने का साधारण पुरुषों की सम्मित है जो कि उनकी रीतियों और स्वभावों में पाई जाती है। जिस बात को लोक सम्मति अच्छा कहे वह ठीक और उसके विपरीत अशुद्ध है यद्यपि साधारण व्यवहार के लिये यह कसौटी काम दे सकती है परंतु ऐसी दशायें आ जाती हैं जहां उस पर चलने से बड़े भय की सम्भावना होती है जिन लोगों ने सुक़रात जैसे महात्मा पुरुष की शिक्षा के समाज के बिगाड़ने वाला कहकर उसे विष का पात्र पीने पर बाधित किया, उनकी लोक सम्मति की कौड़ी भी मूल्य नहीं हो सकती। सुक़रात उन विचारों का प्रचार करता था जो कि साधारण पुरुष समझ न सकते थे। उन्हों ने उस पर नवयुवकों को कुमार्ग पर ले जाने का दोष लगाया और विष पीकर मृत्यु को स्वीकार करने की आज्ञा दी। फिलौस्फर का महत्त्व देखिये। जब उसके शिष्य "क्रायीटव" ने दौड़ जाने के लिये उसे कहा। उसने उत्तर दिया, "क्रायीटव! मैं दौड़ने को उद्यत हूं यदि कहीं ऐसे स्थान परले चलो जहां मृत्यु न आ सके। जितने बड़े प्रवर्तक वा पण्डित हुए हैं साधारण समाज उनके विरुद्ध ही रही है यद्यपि वे सत्य मार्ग पर थे।

—:o:—

सौवर्ण नियम।

१७१–चौथा बड़ा प्रमाण जो कि चीन के प्रसिद्ध फिलौ-

स्फर कनफ्योश्यस से जोड़ा जाता है और जिस सिद्धान्त को बाईबल ने भी उत्तम माना है वह सौवर्ण नियम है। "दूसरों के साथ वह व्यवहार करो जो कि तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे संग करें।" गीता के छः अध्याय के ३२ वें श्लोक में भी यह आता है कि जो पुरुष सुख और दुःख में सर्वत्र सर्व को अपने जैसा समझता है वह ही योगी है। जहां तक सामाजिक वर्ताव का सम्बन्ध है इस से उत्तम कोई नियम नहीं हो सकता। स्वकीय व्यवहारों में हम स्वतंत्र हैं परन्तु सामाजिक व्यवहारों में हम समाज के अधीन हैं। हैकल कहता है, "जो पुरुष समाज में रह कर उस से लाभ और आनन्द प्राप्त करता है उसका धर्म है कि वह समाज के नियम को न तोड़े। यदि पूर्ण स्वतंत्रता पर ही चलना हो तो उसे चाहिये कि समाज को त्याग कर बन में चला जाए।" किन्तु ऐसी दशायें होती हैं जिन के अन्दर यह कसौटी काम नहीं दे सकती। इस से जीवन के साक्षात् धर्म ठैराने और उन के यथा शक्ति पूर्ण करने में कोई सहायता नहीं मिल सकती। यथा इस से यह प्रकट नहीं होता कि स्त्री के लिये पवित्रता, ब्राह्मण के लिये भूखे रहकर भी धर्मोपदेश, क्षत्रिय के लिये जाति और देश की रक्षा के लिये जीवन को भय में डालना भी धर्म है। इस से यह भी निश्चित नहीं होता कि कृष्ण का कंस को मारना उचित था वा नहीं।

खाओ, पीवो, मौज करो।

१७२-पांचवें वे लोग हैं जो बताते हैं कि मनुष्य को अपनी प्रसन्नता सब से उच्च समझनी चाहिये। इसे यूनान में Epicurean (इंद्रियसुखवित्त) और आर्यावर्त में चार वाका फिलौस्फी कहा जाता है। प्रसन्नता के अर्थ उन की दृष्टि में विषयों का आनन्द है। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि साधारणतया मनुष्य का स्वभाव उसे ऐसे कामों की ओर ध्यान दिलाता है जिनसेकी आनन्द प्राप्त होसके। परन्तु इस पर बड़ा आक्षेप तो यह है कि मनुष्य की तृष्णा कभीपूर्ण नहीं होती, किन्तु ज्यों२ मनुष्य किसी विषय का दास होता जाता है। उसे बड़ा भारी दुख उठाना पड़ता है। परन्तु अपने आनन्द की अन्वेषणा में मनुष्यों के मध्य में परस्पर अत्यन्त शोक और घृणा का होना आवश्यक बात है। जब कि हम देखते हैं कि समस्त संसारका धन भी एक मनुष्य की तृष्णा को भर नहीं सकता। महमूद गज़नवी इतनी लूट मार के होते भी हाथ मलता हुआ और रोता हुआ इस संसार से चल दिया।

इस सिद्धान्त को दृष्टि में रख कर कोई बच्चा खेल तमाशों को त्याग कर विद्या प्राप्त करने का परिश्रम कभी सहन न करेगा। यदि कहा जाए कि बच्चों की दशा में यह सिद्धान्त ठीक नहीं। यह स्मरण रखना चाहिये कि संसार में साधारण पुरुष बच्चों का सा स्वभाव रखते हैं। उन को तो धर्म धर्म सम्बन्धी नियमों से बांध कर रखना आवश्यक है।

UTILITY (उपयोग) का सिद्धान्त।

१७३–इस प्रकार के समस्त प्रमाणों को अपूर्ण समझ कर प्रसिद्ध आङ्गल विद्वान् बैन्थम ने उपयोग का सिद्धान्त निकाला। इस के अनुसार सब से अधिक मनुष्यों का सब से अधिक आनन्द ही धर्माधर्म का बड़ा परिमाण है। इस में कुछ सन्देह नहीं कि विज्ञान शास्त्र की दृष्टि से यह अत्युत्तम सिद्धान्त उपस्थित किया गया है। परन्तु इसमें एक दुःख तो यह है कि इस सिद्धान्तको व्यवहारतः काम में लाना अत्यन्त कठिन है। कोई ऐसी विधि नहीं जिससे यह प्रतीत होसके कि कौनसी बातमें सबसे अधिक मनुष्य सबसे बढ़कर आनन्द प्राप्त कर सकेंगे। दूसरा कष्ट यह है कि प्रत्येक मनुष्य को प्रसन्नता दूसरे मनुष्यों के प्रत्येक श्रेणी की दूसरी श्रेणियों के, और प्रत्येक जाति की दूसरी जातियों के इतनी विरुद्ध है कि यह समझना कठिन है कि आनन्द को आदर्श रख कर वह क्यों अपनी प्रसन्नता पर दूसरों की प्रसन्नता को प्रतिष्ठापद देंगे। मनुष्य केवल अपने आनन्द से ही दूसरोंके आनन्द को पहिचान सकता है। तीसरी एक और गूढ़ता इस में बढ़ जाती है जब हम देखते हैं कि बैन्थम का शिष्य विख्यात फिलौस्फर मिल (Mill.) इस प्रशंसा के साथ आनन्द के दो भेद करता है। एक साधारण पुरुषों की प्रसन्नता जिसे वह बड़ा निकृष्ट समझता है और दूसरी विद्वानों की जिसे वह उच्च प्रकारकी विचार करता है। प्रसन्नता का जोड़ करने में वह उच्च प्रकार को निकृष्ट पर प्रतिष्ठापद देता है।

मार्ग वही है जिस पर महाजन चलते हैं।

१७४–महाभारत में कहा है वेद एक मार्ग बताते हैं। स्मृतियां और २मार्ग बताती हैं। कोईऐसा मुनि नहीं जिसका मत दूसरोंसे पृथक् न हो। धर्मका तत्त्व अत्यन्त गूढ़ गुप्त रहस्यहै अतएव मार्ग वही समझो जिसपर महाजन चलतेहैं। भीष्मपितामह ने यह अन्तिम निर्णय दिया कि धर्म जांचने की कोई एक निश्चित् विधि नहीं। यह समय २ पर परिवृत होता है और भिन्न २ अवस्थाओं के अन्दर भिन्न२ हो जाता है। दया और सत्य, जैसे धर्म भी कई अवसरों पर अधर्म हो जाते हैं। महाभारत के कर्ण पर्व में इस विषय की भली प्रकार व्याख्या की है। जब कर्ण का रथ फंस गया तो उस ने अर्जुन से प्रर्थना की कि निःशस्त्र शत्रु पर बाण चलाना धर्म नहीं। अर्जुन रुक गया। कृष्ण ने अवसर हाथ से जाता देखा और अर्जुन को प्रोत्साह दिलाने के लिये कर्ण से यूं बोला। "उस समय तुम्हारा धर्म कहां था जब तुम कपट जूआ खेले? उस समय धर्म कहां था जब द्रौपदी का अपमान किया? उस समय धर्म कहां था जब तुम ने अकेले युवक अभिमन्यु को घेर कर मारा? जिस धर्म के नाम पर तुम अपील (प्रार्थना) करते हो उस की विजय के लिये उस समय अर्जुन का बाण चलाना ही धर्म है।" इसी के सम्बन्ध में गौ और शौनिक का, पथिक और डाकुओं के दृष्टान्त हैं। यदि एक गौ दौड़ गई हो और उस को पकड़ने के लिये शौनिक पूछे कि गौ कौन मार्ग से गई है तो उस समय सत्य बोलना झूठ से

बुरा है। तथा च,यदि एक पथिक बनमें डाकुओंसेभयभीत होकर छिप गया हो तो उन डाकुओं को झूठ बोल कर कुमार्ग पर न लगाना पाप है।

मानव श्रेणी और जाति केलिये पृथक् कसौटी

१७५–यह कठिन प्रश्न समझने की केवल एक ही विधि है वह यह है कि हम मनुष्य, श्रेणी और जाति के धर्माधर्म को पृथक् २ परिमाणों से पड़ताल करें और पुनः यह देखें कि क्या यह तीनों परिमाण किसी एक पारस्परिक कसौटी में एकत्रित किये जा सकते हैं। आर्यशास्त्रों में देशकाल को दृष्टि में रख कर समय २ के लिये पृथक् २ धर्म नियत किये हैं। जाति का अपना धर्म है। श्रेणी अर्थात् वर्ण का अपना २ धर्म है। स्त्री का अपना धर्म है। आश्रमों में मनुष्य का पृथक् २ अपना धर्म है। जिनका वर्ण अध्याय १८ के ४१, ४२, ४३, ४४, ४७ इत्यादि श्लोकों में पाया जाता है अध्याय ४ के १३ श्लोक में कहा है कि यह वर्णा-श्रम प्रत्येक मनुष्य के गुण कर्म स्वभाव को लेकर बनाए गए हैं।

ईसाई और बुद्धमत की यह अशुद्धि है कि वह सब मनुष्यों के लिये एक त्याग का धर्म उपदेश करते हैं। एक मनुष्य त्याग की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करता वह क्यों त्याग करे। उसके लिये अपना धर्म ऐसा ही पवित्र है जैसा दूसरे के लिये त्याग का है। क्षत्रिय का धर्म ब्राह्मण के लिये अधर्म हो जाता है। गृहस्थी का धर्म ब्रह्मचारी के लिए पाप होता है। जो सन्यासी का धर्म है वह साधारण पुरुषों के लिये ठीक नहीं हो सकता। साधारण पुरुष वर्ण

को जातों से मिला कर गड़ बड़ उत्पन्न कर लेते हैं। वर्ण का जन्म से किञ्चित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं। वर्ण समाज का एक प्राकृतिक विभाग है जिसमें प्रत्येक सभासद् समाज की वह सेवा करता है जिसके लिये वह सब से अधिक योग्य है। वर्ण की दृष्टि से ब्राह्मण की भी वही पदवी है जो शूद्र की। ब्राह्मण शिर द्वारा जाति सेवा करता है, शूद्र पद द्वारा। जैसे शरीर में शिर और पद एक जैसे आवश्यक और पवित्र हैं ऐसे समाज के लिये ब्राह्मण और शूद्र दोनों पवित्र हैं।

मानव-धर्म।

१७६–मानुषी दृष्टि से गीता में कहा है कि मनुष्य के सब काम, यज्ञ और तप भी तीन प्रकार के होते हैं। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक।

अध्याय १७ का तीसरा श्लोक बताता है मनुष्य वैसा होता है जैसी उसकी श्रद्धा होती है। मनुष्य के मन का भाव ही प्रत्येक कार्य को अच्छा अथवा बुरा बनाता है। मुझे एक से रुपया लेना है उस पर नालिश करता हूं और रुपया लेने के लिये सच्ची नालिश करता हूं। मुझे किसी का रुपया देना है। वह मुझ पर नालिश करता है मैं इन्कार करके झूठ बोल देता हूं। एक सत्य बोलने से मेरा मान होता है। मैं व्याख्यान में सत्य बोलता हूं। मैं पकड़ा जाता हूं, मुझे जान बचाने के लिये झूठ बोलना आवश्यक है। मैं गुप्तचर बन जाता हूं। क्या इन कर्मों में सत्य अथवा

असत्य कोई अपनी सत्ता रखते हैं कुछ नहीं। जो बात मेरे प्रयोजन की है उसे मैं कर लेता हूं। समय पर सत्य, समय पर असत्य, समय पर मित्रता, समय पर शत्रुता, समय पर कठोरता, समय पर नम्रता, बात तो केवल यह है कि मैं क्या हूं? मैं वह हूं जो मेरी श्रद्धा है। जो मेरा कार्य है। जो काम मनुष्य को गिराता है वह पाप है। जो उसे विषयों के दासत्व में बांधता है। अतएव गीता के तीन अध्याय के २७ वें श्लोक में कहा है "यह काम है यह क्रोध है जो हमको पापमें फंसाता है।" काम अर्थात् आत्मकीय कामना ही सब पाप का मूल है। जो काम स्वलाभ के लोभ में वा दुःख के भय में आकर किया जाता है वह पाप है। जो काम केवल धर्म जान कर किया जाता है वह पुण्य है। इस लिये गीता के अध्याय १८ के १७ वें श्लोक में कहा है "जिस मनुष्य के अन्दर आत्म भाव नहीं वह बध करता हुआ भी बध नहीं करता"।

श्रेणी और जातीय धर्म।

१७७-भिन्न २ श्रेणियों में एक श्रेणी विशेष गुणों को धर्म और दूसरी उनको अधर्म कहती है। धनाढय और निर्धनियों के संग्राम में धनी वीरता को अच्छा कहेंगे और निर्धनी निर्बल पुरुषों की सहायता को। धनवानों के लिये अधिकारों के अर्थ अलग अलग के हैं। असमानता प्रकृति ने बनाई है। निर्धनी साम्यवाद की ओर होंगे। भिन्न २ जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों को धर्म अथवा अधर्म

निश्चित करने का एक ही परिमाण "सफलता" है जिसका निर्णय पारस्परिक संग्राम के मुकाबला से प्रतीत हो सक्ता है। जब एक जापानी से प्रश्न किया गया कि जापान कैसे सभ्य बना? तो उसने तत्काल उत्तर दिया "कई लाख रूसियों का वध करने से" यदि अमेरिका भी ऐङ्गलस्थान के प्रति युद्ध में विजय प्राप्त न करता तो एक वाशिंगटन एक Hero (वीरपुरुष) के स्थान में राजाभिद्रोही गिना जाता। जातियों में शक्ति की न्यूनता अथवा अशुद्ध नीति निर्बलता उत्पन्न करके उनको नष्ट करती है। यह निर्बलता है जो कि सबसे बड़ा जातीय पाप है। इस लिये यह प्रसिद्ध कथन है कि "परमात्मा भी बड़ी सेनाओं की ओर होता है।" जब हरिसिंह नलवा डेरा की ओर विजयों को प्राप्त कर रहा था तो वहां की मुसलमान संख्या अत्यन्त दुःखित हुई और खां लोगों ने एकत्रित होकर युद्ध करने का विचार किया। उन्हों ने एक वृद्ध नवाब को पत्र लिखा कि "हम सबने मिल कर यह निश्चय किया है। आशा है आप भी सम्मिलित होंगे। परमात्मा हमारी सहायता करेगा।" नवाब ने बुद्धिगम्य स्पष्ट उत्तर दिया "यदि अपने अन्दर उत्साह देखते हो तो निस्सन्देह युद्ध के लिये सज्जित हो जाओ परन्तु परमात्मा पर आशा छोड़ दो क्योंकि परमात्मा तो आज कल सिक्ख होगया है।"

गिरी हुई जातियों का एक ही चिन्ह है कि उनमें से अधिक संख्या में ऐसे मनुष्य मिलते हैं जो कि अपने आत्मकीय लाभ के लिये जातीय जीवन का त्याग कर देते हैं। बन के वृक्षोंको किसी ने बताया कि तुम्हें काटने की तय्यारी

हो रही है। वे व्याकुल हुए। उन के अन्दर एक वृद्ध था। उसने कहा मत डरो तुमको कोई काट नहीं सकता। फिर बताया गया कि अब लोहा खान से निकाला गया है। फिर वह व्याकुल हुए और वृद्ध ने उन्हें श्वास दिया। फिर कहा गया कि अब कुल्हाड़ा तय्यार है फिर वैसा ही हुआ। अब सूचना आई कि कुल्हाड़े के साथ काष्ठ की मुष्टि डाली गई है। तब वृद्ध वृक्ष शोक से कहने लगा अब तुम कटने के लिये तय्यार हो जाओ क्योंकि तुम्हारे अपने भाई शत्रु से जा मिले हैं। महाभारत में वर्णन है कि जब दुर्योधन को गन्धर्व राजा कैद करके ले गया, यद्यपि दुर्योधन युधिष्ठर को दुःख देने के लिये आया था, फिर भी युधिष्ठर ने अर्जुन से कहा कि जाओ उस को छुड़ा लाओ। जब हमारा दूसरों से युद्ध हो तो हम पांच भाई नहीं किन्तु एक सौ पांच हैं।

१७८–जब कभी दो जातियों के मध्य में युद्ध वासंग्राम होता है तो प्रकृत्या प्रत्येक अपने आप को सन्मार्ग पर समझती है और दूसरी को कुमार्ग पर, ठीक उस बच्चे के सदृश जिस ने अपनी माता से जाकर कहा "माता! यह बड़ी विचित्र बात है जब कभी मैं किसी बालक से विवाद करता हूं तो मैं सदैव सन्मार्ग पर होता हूं और मेरा विरोधी कुमार्ग पर ऐसा ही विचार ऐङ्गलस्थान पर और फ्रांस के सौवर्ष के युद्ध के मध्य एक स्कौच वृद्धा स्त्री ने प्रकट किया। वह अपनी जाति की विजय के लिये प्रार्थना कर रही थी। किसी पुरुष ने कहा परमात्मा ऐसी प्रार्थनाएं नहीं सुनता क्योंकि तुम्हारी नाईं फ्रांस की स्त्रियां भी प्रार्थनाएं करती

होंगी। उसपर वह झट बोल उठी फ्रैन्च जैसी निरर्थक भाषा परमात्मा कैसे समझता होगा? यद्यप प्रत्येक जाति अपनी नीतकी स्पष्टता में संसारकी भलाई का मिथ्या हेतु उपस्थित करती है परन्तु उनके लिये संसार की भलाई का वह पक्ष ठीक प्रतीत होता है जिस में उनका अपना लाभ होता हो। यथा यह कहना कि रूस का राज्य अच्छा नहीं बड़ी ही अस्पष्ट बात है क्योंकि अंग्रेज विशेष प्रकार का राज्य रूस में अच्छा विचार करते हैं। जर्मन और प्रकार के राज्य को अच्छा विचार करते हैं। रूस के लोग एक विशेष रूप को अच्छा कहते हैं। रूस में भी रुपया वाले लोगों और निर्धन पुरुषों के पक्ष सर्वथा विभिन्न हैं। भविष्य मानव जाति के लिये अच्छा राज्य क्या है? एक और ही पक्ष है। मिलने अपनी पुस्तक गवर्नमेंण्ट रैप्रेजैन्टेटिव (Government Representative) में आर्यावर्त का वर्णन करते हुए लिखा है कि एक जाति का दूसरी जाति पर उसके लोगों की भलाई के लिये शासन करना असम्भव है क्योंकि प्रत्येक जाति जातीयतामें बिना अपने लाभ के कुछ और देख नहीं सकती। यद्यपि उसका अभिप्राय ऐसा कहने का और था यह कि आर्यावर्त का शासन प्रति निधि सभा(Parliament) के हाथ में न होना चाहिये प्रत्युत कम्पनी के हाथ में, और मिल कम्पनी का सेवक इण्डिया आफिस में कामकरता था।

१७६–हरिवर्षकी जातियों की नीति चिरकाल पर्यन्त हरिवर्ष में शक्ति प्राप्त करनेकी थी। इस कारण से उनके परस्पर संग्राम हुए। वर्तमान काल में उनकी नीत संसार के दूसरे देशों पर अपना गौरव स्थित रखने और धन

उपार्जन करने की है। इसी शक्ति और गौरव की न्यूनता तथा अधिकता के कारण उनका परस्पर द्वेष समस्त युद्धों का वास्तविक कारण हुआ है। उनकी देश भक्ति की तह में अन्य जातियों से द्वेष काम करता है। आधुनिक युद्ध क्या था? जितनी धन सम्पत्ति निर्धन एशियाई जातियों के रक्त से एकत्रित की गई थी उसके गोले और तोपें बनाई गईं जिन्हों ने एकत्रित करने वालों की सन्तानों को नष्ट करने का काम किया। महाभारत का युद्ध भी निस्सन्देह इसी प्रकार का नाश करने वाला था। भेद केवल इतना था और यह भी बड़ा भारी भेद है कि इस युद्ध का आधार न तो बल की इच्छा पर था और न दूसरों के द्वेष पर। इस युद्धका आरम्भ उन लोगोंकी ओर से हुआजिन्हें उनके सब अधिकार दबाकर देश निकाला दिया गयाथा। उन को जीवन व्यतीत करने के लिये भी कोई स्थान देनाठीक न समझा जाता था। दुर्योधन क्रूरता और अन्यायकी साक्षात् प्रतिमा थी जिसे नाश करना क्षत्रिय धर्मका अङ्ग था। इसी लिये उस युद्धको धर्म कहकर कृष्णने अर्जुन को उत्तेजित करना आवश्यक समझा। अध्यायदो का ३७ वां, चार का ४२ वां और अठारह का ५७ वां श्लोक प्रकट करते हैं।

युद्ध को संसार में समाप्त करदेने के लिए जातियों के संगठन(League) आदि बनाए जाते हैं। महाभारत में यह विचार प्रकट किया है कि इस प्रकार के युद्ध को रोकने की विधि यह है कि प्रत्येक विवादास्पद के विषय में नियम बनाने का निर्णय चार सन्यासियों की सभा द्वारा हो। उस में एक सन्यासी इस देश का। दूसरा विरुद्ध देश का,

तीसरा पक्षपात रहित देशका और चौथा बनमें रहने वाला हो। संसारमें युद्धकी समाप्ति केवलइस रूपमें हो सकती है जब मनुष्य मात्र की भलाई को आदर्श स्वीकार करके परस्पर व्यवहार सम्बन्धी नियमों की नींव धर्मपर रखी जाए।

१८०–यदि मानुषी, सांप्रादायिक और जातीय धर्मों को एक स्थान में करके परीक्षा लीजाए तो इन तीनों की तैह के अन्दर एक पारस्परिक सिद्धान्त काम करता दिखाई देता है। वह सिद्धान्त दूसरों की भलाई है। इसे गीता के अध्याय पांच के २५ श्लोकों में "सर्व भूतहिते" अर्थात् "सब प्राणियों के हितके लिये" का नाम दिया है। इसधर्म काबताने वाला वह पुरुष हो सकता है जो कि सब प्रणियों को समदृष्टि से देखता हो।

अध्याय १६ का २९ श्लोक भी यही कहता है कि "पूर्ण ज्ञानी सबको अपने अन्दर और अपनी आत्मा को सर्व प्राणियों के अन्दर देखता है।" ज्ञानी अपनी आत्मा को इतना फैलाता है कि वह अपने से बढ़कर कुल में, कुल से आगे सम्प्रदायक में, सम्प्रदायक से आगे जाति में, जाति से आगे मनुष्य में, और मनुष्य से आगे प्राणी मात्र में अपनी आत्मा को अंगीकार करता है। उसके लिये स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों एक हो जाते हैं।

अध्याय पांच के १८ वें श्लोक में बताया है कि "ज्ञानी, ब्राह्मण, शूद्र, गज गर्दभ और कुत्तेको समदृष्टिसे देखता है"। आर्य धर्म में संन्यासी सबसे उच्च पुरुष समझा जाता है जिसका व्रत यह होताहै कि उसका कोई देश नहीं। उसकी कोई जाति नहीं। सब पुरुष क्या प्रत्येक प्राणीउसका बन्धु है।

कर्त्तव्य ।

न्याय के साथ प्रेम, अन्याय के साथ युद्ध है।

१८१–भगवद्गीता धर्म का मार्ग बताने का ज्ञान शास्त्र है। चौथे अध्याय का प्रसिद्ध श्लोक है जिस में कहा है कि "जब धर्म की ग्लानि होती है मैं साधु पुरुषों की रक्षा तथा दुष्टों के नाश को दूर करने के लिये संसार में आता हूँ।" मानव सृष्टि में बहुत अवसर हैं जब कि महात्माओं ने केवल प्रेम और भक्ति का प्रचार करके संसार को उठाना चाहा है। बुद्धने, मसीह ने, नानक ने ऐसा किया। संसार में और समय हुए हैं जब कि अधर्म अथवा अवधिकार को दूर करनेके लिये उसके विपरीत युद्ध करना पड़ा है। कृष्ण ने, मुहम्मद ने, गुरुगोविन्द ने यह मार्ग लिया। दोनों मार्ग एक ही हैं। उन का धारण करना परिस्थितियों पर होता है। धर्म के साथ प्रेम, अधर्म के साथ युद्ध एक ही बात है। उन की क्रिया विधि में बड़ा अन्तर दिखाई देता है। परन्तु जैसे माता बालक के साथ प्रेम करती है। उस से क्रीड़ा करती है, हंसती है। जब भेड़िया आ जाता है अपने जीवन की चिन्ता न करती हुई छुरिका लेकर उस पर कूद पड़ती है। कर्मों के रूप में भेद होजाता है। माता के प्रेम में तो कोई भेद नहीं। वह तो एक रस ही रहता है।

गीता-ज्ञान का समय, अर्जुन की व्याकुलता।

१८२-गीता के रहस्य बताने का समय बड़ा चित्र विचित्र है। दोनों पक्ष युद्ध के लिये एकत्रित हो गए हैं। कृष्ण के हस्त में शस्त्र नहीं है वह तो केवल युद्ध की आत्मा है। रथ का सारथिही होना अर्जुन का शुभचिन्तक होना है। अर्जुन ने कहा रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलो। अर्जुन ने वहां जा कर दोनों ओर दृष्टि डाली। उसे अपने बृद्ध, सम्बन्धी और आचार्य दिखाई पड़े। वह उन सब के मारे जाने के विचार से व्याकुल हुआ। उस के नेत्रों में अश्रु भर आए। उस ने हाथ से धनुष बाण रख दिया। उस को विचार हुआ कि यह युद्ध हम लोभ के वश में आ कर करते हैं। उस ने कृष्ण से कहा, "इस से तो भिक्षा मांग कर भोजन कर लेना अच्छा है।" अर्जुन अपना सब अधिकार त्यागने पर उद्यत हो गया। उसे अपमान की भी चिन्ता न रही। वह समझा कि त्याग ही सब से बड़ा धर्म है।

अर्जुन तो अपने सम्बन्धियों तथा आचार्यों के लिये सब कुछ त्यागना चाहता था। न केवल राज को त्यागना परन्तु भिक्षा मांग कर उदरपूर्ति करना उस को स्वीकार था। वह कहने लगा कि "यह अज्ञानी राज के लोभ में फंसे हैं। हम ज्ञानी होकर यदि उन्हें मारेंगे तो हमें बड़ा पाप होगा।" कृष्ण ने देख लिया कि इन सब आक्षेपों की तह में भीरुता काम करती है। उस ने कहा यह क्या पुरुषों की बातें हैं, यह आर्यों के योग्य नहीं। झूठा त्याग

उस से कितना ही त्याग क्यों न हो अशुद्ध है।

हमारे सामने भी पुरुष विद्यमान हैं जो कि त्याग में सब से बढ़ कर हैं। उन के त्याग का उदाहरण मिलना भी कठिन है। परन्तु क्या त्याग सर्वोत्तम धर्म है? कृष्ण ने गीता में कहा है कि यह त्याग झूठा है, यह त्याग कातर्य से उत्पन्न होता है। मृत्यु का भय अपना हो अथवा दूसरों का, मनुष्य को भीरु बना देता है। यह त्याग जिसे बड़ उत्तम समझने लगता है वस्तुतः धर्म का त्याग होता है। इस लिये अध्याय दो के १९ श्लोक में अर्जुन को स्पष्ट बताया गया है "इस की चिन्ता मत कर, न यह आत्मा मरता है न किसी को मारता है। यदि तुम ने ज्ञान प्राप्त कर लियातो तुम मरने,मारनेके पापसे परे चले गए हो।"

विजय और साध्य।

१८३–मेज़नी ने एक स्थल पर कहा है कि "जो मनुष्य धर्म के लिये जीवन देने पर उद्यत होता है। विजय और साध्य के दैवदूत उस की रक्षा और हित के लिये विद्यमान रहतेहैं।" धर्म युद्ध में प्रथम तो विजय प्राप्त होती है। यदि विजय न हो तो साध्य का दैवदूत अपने पक्ष फैलाए उस की आत्मा को आकाश में ले जाता है। गीता के अध्याय दो के ३७ वें श्लोक में ठीक यही विचार प्रकट किया है। "यदि तुम जीत जाओगे तो राज भोग करोगे। यदि मारे जाओगे तो स्वर्ग मिलेगा, अतएव अर्जुन धर्म युद्ध करने पर उद्यत हो जाओ।"

महाभारत में जब कुन्ती कृष्ण के हाथ अपने पुत्र युधिष्ठिर को सन्देशा भेजती है तो उस में एक स्त्री विदुला का अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त देती है। विदुला के पुत्र से शत्रुओं ने राज हर लिया है और वह स्वयं पर्वत में जा छुपा। वह अपने पुत्र को कहती है "तुम किस के वीर्य्य से हो, न अपने पिता के, न माता के। तुम्हारे अन्दर न कोप है न ताप। तुम्हें पुरुषों में कौन गिनेगा तुम तो नपुंसक हो जो रणभूमि से दौड़ आए हो। क्षत्रियों का पुत्र सिंह की नाईं बन में निर्भय फिरता है। उठ, भय त्याग कर अपमान का जीवन घृणित है। जिस में उत्साह नहीं, पुरुष ही नहीं। लज्जा नहीं, वह निर्लज्ज न पुरुष है न स्त्री है। इस से न मित्रों को सहायता मिलेगी, न प्रजा को सुख मिलेगा। न पिता का नाम जीवित होगा न माता का हृदय ठण्डा होगा।" बालक बोला माता तुम को क्या सुख मिलेगा यदि तुम्हारा पुत्र मारा जायेगा।" माता ने उत्तर दिया "मरना जीना तो प्रतिदिन लगा रहता है। उसको कौन रोक सकता है। जो रणभूमि में मरता है स्वर्ग पाता है।" उसको उत्साह देने के लिये उपदेश दिया है कि तुम इन २ विधियों से अपनी शक्ति को बढ़ाओ और पुनः अपना राज्य लेने का यत्न करो। यदि कुछ नहीं कर सकते हो तो वह कहती है। "सन्सार में समय आते हैं जब कि एक बार भस्मीभूत होकर चमत्कार दिखलाना चिरकाल पर्यन्त सुलगते हुये धूम उत्पन्न करने से कई गुणा उत्तम होता है।"

धृतराष्ट्र ने ऋषि सन्त सनत्सुजातसे पूछा कि मृत्यु की क्या

सत्ता है? ऋषि ने उत्तर दिया कि मृत्यु है भी और नहीं भी, यह देखने वालों के नेत्रों पर निर्भर है। मृत्यु केवल अज्ञान का परिणाम है। ज्ञानी के लिए मृत्यु कोई सत्ता नहीं रखती। अज्ञान के कारण कामना उत्पन्न होती है। उससे विक्षोद्वेग और कोप होता है। जो मनुष्य को मृत्यु के पञ्जे में फंसाते हैं। जिसको कामना नहीं उसे मृत्यु का भय नहीं।

मृत्यु और उत्पत्ति केवल परिवर्तन का नाम है। यदि मृत्यु न होगी परिवर्तन का नियम बन्द हो जाने से उत्पत्ति भी न होगी।

कर्तव्य का ज्ञान देश, काल पर निर्भर है।

१८४-कर्तव्य का ज्ञान अवस्थाओं के भली प्रकार समझने से होता है है देश, काल तथा कारण का जानना अवस्थाओं का जानना है। स्वदेश और जाति की अवस्था जानने के लिये हमें थोड़ा पीछे जाना आवश्यक है। जो लोग इस देश में रहते हैं उनको आर्य कहा गया है। जाति का नाम तो आर्य्य है। इसी जाति से ईरानी और हरिवर्षीय जातियां सम्बन्ध रखती हैं। यह लोग अपने आपको आर्य्य ही कहा करते थे। परन्तु जब ईरानियों को इन से पृथक् हुए काल व्यतीत हो गया तो फिर इन्हों ने अपनी पृथक उन्नति करके इस देश में आने का विचार किया। अटक नदी पर उन्हों ने इसका नाम निकाला जो कि संस्कृत भाषा में 'सिन्धु' बताया गया। पारसी लोग 'स' के

शब्द को 'ह' से परिवर्तित कर देते हैं उन्हीं ने "सिन्धु" को 'हिन्द' बना कर नदी को और लोगों को उस नाम से बुलाना आरम्भ किया। इसके उपरान्त यूनानी लोग इस देश में आये। उन्हों ने पारसियों से सुनकर 'ह' का शब्द न बोलकरकेवल 'इन्दु' नाम से बुलाया जिससे "इन्द" तथा 'इण्डिया' बने। यूनान से इटली और वहां से हरिवर्ष में विस्तृत हुए। इस प्रकार से "हिन्दु" शब्द विदेशी पुरुषों की ओर से इस देश और जाति के लिये प्रयोग किये जाने लगा। यवनराज्य के समय में हिन्द के अर्थ प्रकृत्या बुरे समझे जाने लगे। यद्यपि शताब्दियों पूर्व चीनियों ने लिखा था कि यह शब्द 'इन्दु' है जिसके अर्थ चन्द्रमा हैं। जैसे चन्द्र सब तारों को मात करके ब्राह्मण को प्रकाशित कर देता है ऐसे ही इस देश के प्रकाश ने संसार को प्रकाशित किया है।

१८५-आर्य जाति की जितनी शाखें संसार में विस्तृत हुई हैं उनमें केवल आर्यों ने अपनी जाति की सभ्यता को वास्तविक स्वरूप में स्थित रखने की चेष्टा की है। हरिवर्ष की आर्य शाखें यहूदी विचारों के अन्दर निगीर्ण हो गईं। एशिया की आर्य शाखों ने इस्लाम द्वारा अरब सभ्यता को धारणा किया। आर्य्यों ने अपनी सभ्यता वा अस्तित्व को स्थित रखने के लिये बड़ा त्याग किया। जिस प्रकार आज कल हरिवर्षीय जाति के लोग बाहिर हमारी सभ्यता को उलटना चाहते हैं, इसी प्रकार एक काल था कि यवनों ने ऐसा करने का यत्न किया और वे यहां स्थित हो जाने के भी विदेशी जाति समझी जाती थी जैसी आज कल

हरिवर्षीय जातियां समझी जाती हैं। जैसा उस काल में अपनी सभ्यता तथा धर्म की रक्षा केलिए राजपूत, मराठों और पञ्जाब के सिक्खों ने काम किया ऐसा ही इस काल में ईसायत से अपनी सभ्यता की रक्षा के लिये लोगों का उद्योग कई क्रियाओं में प्रकट हुआ। मदरास में थ्यासोफी, बंगाल में स्वामी विवेकानन्द मिशन, महाराष्ट्र में स्वदेशी, संयुक्त प्रान्त में गोरक्षणी एक की विचार का परिणाम हैं। इन सब से बढ़कर जिस क्रिया ने अपना प्रभाव उत्पन्न किया वह स्वामी दयानन्द का आर्यसमाज है। प्रश्न होता है कि स्वामी दयानन्द का वास्तविक प्रयोजन क्या था? क्या वह मिशन स्वामी जी की पुस्तकों में है? क्या वह मिशन समाज के सिद्धान्तों में है। स्वामी जी ने अपनी सम्मति में परिवर्तन किया। सिद्धान्तों को भी कई बार बदला और जीवित रहते तो कदाचित् फिर बदल देते। परन्तु एक वस्तु अटल स्वामी दयानन्द के चित्त में आरम्भ से अन्त पर्यन्त बिना परिवर्तन के रही वह स्वामी के आत्मा में आर्य सभ्यता का निःसीम प्रेम था। यही एक भाव स्वामी दयानन्द के जीवन और मृत्यु का आदर्श था। यह वही भाव है जो राजा की कन्या रोती हुई प्रकट करती थी। क्या करूं? कहां जाऊं? वेदों की रक्षा कौन करेगा? इस के लिये स्वामी जी ने अपनी विद्या, बल और जीवन बलिदान किया। इसी उद्देश को सम्मुख रख कर आर्य्य-समाज स्थापित हुई। आर्यसमाज का मिशन एक ऐसे ब्राह्मण उत्पन्न करना है जो वैदिक धर्म की रक्षा करें। केवल विद्या देने वाली संस्थायें ब्राह्मण उत्पन्न नहीं

कर सकतीं। यदि आर्य्यसमाज में जीवन हो तो प्रत्येक स्थान से ऐसे पुरुष निकाल सकता है जिन का ब्राह्मण जीवन होगा।

उन्नति वा अवनति आदर्श पर निर्भर है।

१८६-हम लोग प्रायः तोतों के सदृश कई वाक्यों को कण्ठस्थ किये हुये हैं। बहुत बार यह सुना जाता है कि आज कल संसार उन्नति कर रहा है। क्या तुम फिर पुराने काल को लौटा लाना चाहते हो? अभी लो हरिवर्ष की उन्नति ही हमारा आदर्श बनी रही थी। युद्ध ने बताया है कि यह सब उन्नति किधर को जा रही है। इसका रुख समस्त जातियों में एकही था कि किस प्रकार वह ऐसे साधन उत्पन्न करें जिससे अन्य जातियों को सुगमता से नष्ट कर सकें। सिद्धान्त और है संसार में जातियां उत्पन्न होती हैं, बढ़ती हैं और गिरती हैं। उन्नति वा अवनति आदर्श की ओर वा उससे परे जाने का नाम है। एक आदर्श को सामने रखे हुये जिसे हम उन्नति कहते हैं दूसरे आदर्श के सामने आने से वह मार्ग अवनति का हो जाता है। हमारे लिये प्रश्न यह है कि विक्रमादित्य का काल हमारा आदर्श है वा नहीं? क्या विक्रमादित्य के काल की सभ्यता को लौटा लाना हमारे लिये अवनति है वा उन्नति? शास्त्र में कहा है धर्म मारा हुआ मार देता है। धर्म रक्षित किया हुआ बचा लेता है। धर्म की रक्षा ही जातीय-जीवन की रक्षा है। शौपनहावर किलौस्फर ने उपनिषदों के पारसी अनुवादों को पढ़ा

और निर्णय दिया कि "ऐसे लोगों को हमारे मिशनरी क्या सिखायेंगे। मानव-जाति का आरम्भिक सभ्यता को गैलीलो के वृत्तान्त और कथायें मिटा नहीं सकतीं। परन्तु मेरा विश्वास है कि इसकी एक तरंग फिर हरिवर्ष में फैलेगी और हमारे ज्ञान तथा विचारों में एक परिवर्तन उत्पन्न करेगी।"

धर्म और पौलेटिक्स ।

१८७–चिरकाल की धार्मिक शिक्षा ने हमारे स्वभावों में एक विशेष रुचि उत्पन्न कर दी है। धार्मिक बातों केलिये हमारी दिन रात्रि व्यय हो जाती है। ज्यूं ही कोई संसारिक वा पोलीटिकल बात का वर्णन हुआ हमारा चित्त उन से घृणा करने लगा। ध्यान देने से प्रतीत होगा कि पौलेटिक्स धर्म का अंग है। कोई धर्म पौलेटिक्स से शून्य नहीं। जहां पर धर्म मृत्यु के पश्चात् अज्ञेय बातों की ओर हमारा ध्यान खैंचता है वहां पौलेटिक्स जीवन में समस्त संसारिक बातों को हमारे सामने रखती है। सत्य यूं है कि यह जीवन अच्छा होने से ही मृत्यु के पश्चात् का जीवन अच्छा होने की आशा हो सकती है। जाति की आर्थिक, सामाजिक, विज्ञानिक तथा शारीरिक उन्नतिकी बातें सब पोलीटिकल हैं। आर्य्यों को अधोगति का सब से बड़ा चिन्ह ही यही है कि इनके अन्दर साधारण पुरुषों ने पोलीटिकल बातों में संग लेना छोड़ दिया था। मुसलमानी आक्रमणों के समय में कोई नीच से नीच मनुष्य उठा और उसने एक समूह अपने गिर्द एकत्रित करके अपना अधिकार जमा

लिया। लोग उसके शासन में ही प्रसन्न होगये।

यदि प्रातःकाल उठकर स्नान करना धर्म है तो देश के अन्दर स्वास्थ्य विद्या के नियम प्रचलित करना जिन से प्लेग विशूचिका, रोग दूर होकर लाखों जीवन बचें। क्योंधर्म नहीं। यदि चोरी न करना धर्म है तो देश से निर्धनता और भूख दूर करने के लिये कलाकौशल को उन्नत करना कैसे धर्म नहीं है? भूख को सब पापों का मूल कहा गया है।

विद्या एक नदी के तरंग के सदृश है। प्रज्वलित करके प्रसन्न कर सकता है। हमारे नगरों का नाश भी कर सकता है। उसकी प्रणाली को ठीक रखना कैसे धर्म नहीं? भाषा हमारे धर्म की रक्षा करने वाली है। अपनी सन्तान की शिक्षा अपनी भाषा में कराना और ज्ञान के उत्तम पुस्तक उसमें प्रचलित करना कैसे धर्म नहीं।

पौलेटिक्स का एक और विशेष पक्ष।

१८८–पौलेटिक्स का एक और पक्ष है जो कि भय और कष्ट के समय में शत्रुओं के साथ वर्ताव के सम्बन्ध में महाभारत में दिखलाया गया है। आधुनिक काल ही समस्त पौलेटिक्स का यह एक बीज मन्त्र है जो कि एक दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया गया है।

एक आखेटक फन्दा लगाकर पक्षी फंसाया करता था। उसमें एक जांगली बिल्ली फंस गई। एक मूषक वहां रहा करता था। वह बाहिर निकला और व्याध ने जो मांस का खन्ड वहां डाला था कुतरने लगा। इतने में नकुल

ने उसको ताड़ लिया और समीप ही खड़ा होगया। उसी समय ऊपर देखने पर मूषक की दृष्टि एक और शत्रु उल्लू पर पड़ी जो कि वृक्ष पर बैठा था। मूषक डर गया किसी ओर जा न सकता था। दो शत्रु उसकी ताक में थे। तीसरा शत्रु बिल्ली कष्ट में फंसी थी। मूषक ने सोचा कि इस समय नीति से काम लेकर शत्रुओंसे बचना बड़ी दूरदर्शिता का काम है। वह बिल्ली के पास गया और कहा कि मैं इस समय तेरी सहायता कर सकता हूँ यदि तू मुझे हानि न पहुंचाए। बिल्ली जीवन के भय में फंसी हुई थी। इस उपाय पर बड़ी प्रसन्न हुई। उसको प्रशन्सा करने लगी और कहा कि जो कुछ तू कहेगा मैं करूंगी। दोनों में मित्रता हो गई। मूषक बिल्ली के निकट चला गया। उल्लू और नकुल दोनो विस्मित हो गये। परन्तु उनका अब साहस न था कि मूषक को बिल्ली से हरलें। दोनों विवश हो कर चले गये। मूषक ने शनैः २ अपने दांतों से फन्दे को काटना आरम्भ किया। उसका भाव यह था कि वह प्रातःकाल होते तक कार्य्य को प्रचलित रखे जबकि वह व्याध आजाए।

प्रातःकाल होने लगा। व्याध दृष्टिगोचर हुआ। बिल्ली रुदन करने लगी भाई शीघ्रता करो। अब तो वह आता है। मूषक बोला, व्याकुल मत हो, मैं कर रहा हूं। बिल्ली ने पर्याप्त कहा परन्तु वह शनैः २ ही करता रहा। थोड़ी सी गाण्ठ शेष रह गई। जब व्याध शिर पर आया तो मूषक ने वह भी काट दी। बिल्ली को अपने जीवन का भय था। झट वहां से दौड़ गई और मूषक भी आनन्द से अपने बिल में प्रविष्ट हो गया। बिल्ली बच तो गई

परन्तु उसे भूख लगी थी। वह मूषक के बिल के पास गई और कहने लगी भाई मूषक ! तुमने मेरे जीवन की रक्षा की है तुम एक बार बाहिर निकलो ताकि मैं तुम्हारे साथ प्रेम करूं। मूषक बोलता है तुम मेरी शत्रु हो। उस समय तुम्हारा प्रयोजन था, मेरा भी स्वार्थ था। हमारी मित्रता हो गई अब तुम्हारा मेरे साथ क्या प्रयोजनहै। तुम बाहिर से प्रेम की बातें करो, मैं सुन लूंगा परन्तु बाहिर न आऊंगा। दोनों के इस आधार पर प्रश्नोत्तर हैं जोकि अत्यन्त मनोरञ्जक और शिक्षा दायक हैं।

———:o:———

शत्रु के गिराने की विधियां।

१८६–बलवान शत्रु निर्बल शत्रु को किस प्रकार से गिराने की चेष्टा करते हैं। महाभारत में इस का वर्णन अर्जुन के सम्बन्ध में पाया जाता है। जब पाण्डव द्रौपदी को साथ लिये बन को जा रहे थे तो व्यास जी उन से जा कर मिले। युधिष्ठर को पृथक् ले जा कर उपदेश देना प्रारम्भ किया। कहा, कि तुम लोगों को अपने अधिकार लौटा लेने के लिये अपने आप को उद्यत करना चहिये। तुम क्षत्रिय हो केवल बनमें रहने से कोई सफलता की आशा नहीं तुम को शस्त्र विद्या में पूर्ण अभ्यास करना चाहिये ताकि तुम अपने उद्देश में सफलहो सको। अर्जुनको एक विशेषस्थान बन में रह कर शस्त्रविद्या में अभ्यास के लिये भेजा गया। उधर दुर्योधन को इस उपाय का पता लग गया। उस ने अर्जुन को उस से हटाने के लिये कई साधन धारण किये।

पहिला साधन तो उपदेश था। दुर्योधन के मनुष्य ब्राह्मण का भेष बना कर अर्जुन के पास पहुंचे। उसे समझाने लगे कि तुम इस पवित्र बनमें शस्त्रोंका अभ्यास क्यों करते हो? यहां के पक्षी निर्दोष और सरल हैं, उन को भय-भीत करने से क्या लाभ? तुम बनवासी हो, यहां ऋषियों का जीवन व्यतीत करो। शस्त्रों की यहां क्या आवश्यकता है। तुम मोक्ष की इच्छा करो। अर्जुन ने उत्तर दिया "न मुझे मोक्ष की इच्छा है न भोग की। मैं सुख चाहता हूं न धन। मैं अपने भाई बन में छोड़ आया हूं और अपने शत्रु से बैर लेने की तय्यारी करता हूं। मेरा धर्म तो एक यही है।" उन्हें निराश होकर लौट आना पड़ा। दूसरा साधन अर्जुन को भयभीत करने का यह था। उस के रहने की गुहा में ऐसे सिखाये हुए बन प्राणी भेजे गए जो उसे जा कर मार डालें। अर्जुन ने उन का बाणों से वध कर दिया। तीसरा साधन सुन्दर स्त्री भेज कर उसे गिराने का था वैश्या ने जाकर बड़े प्रलोभन दिये। अर्जुन सच्चा तपस्वी था। वह कहने लगा कि मैं यह तप कर रहा हूं। स्त्री मुझे माता ही दीखती है। इन सब धोखों से बचते हुए अर्जुन ने अपने तप में पूर्ण सिद्धी प्राप्त की। राजनैतिक संसार में सदा से ही लोभ, भय तथा स्त्री प्रलोभन शत्रुके गिराने के लिये प्रयोग किये गए हैं। पोलीटिकल कैरैक्टर (आचार) वही रखता है जो कि उन से बचने का सहास रखता हो। इन प्रलोभनों के अन्दर फंस कर मनुष्य जाति विद्रोह करता है, किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक राजनैतिक कार्य में पर्याप्त बुद्धि अथवा

विचार का न होना इतनी ही हानि पहुंचाता है जितना कि विद्रोह। मूर्खता और द्रोह एकही प्रकार के शत्रु हैं।

———:o:———

आङ्गलराज्य का भारत वर्ष पर प्रभाव।

१६०—आङ्गल राज्य भारवर्ष में है। आङ्गल जाति का निश्चय आर्यावर्त में भला करने का था वा नहीं? परन्तु इस में कुछ सन्देह नहीं कि आङ्गल जाति द्वारा भारतवर्ष का बहुत कल्याण हुआ है। दो पाषाण मिलते हैं उन से रगड़ उत्पन्न होती है। उन की एक दूसरे पर क्रिया से अग्नि उत्पन्न होती है। दो प्रकार की समाजों के मेल से उन की एक दूसरे पर क्रिया होती है इस से कई नई शक्तियां उत्पन्न होती हैं। इसी क्रिया को "क्रिया और प्रतिक्रिया" का नियम कहा जाता है। आर्यावर्त की नीचावस्था का यदि कोई वास्तविक कारण है तो वह यह है कि यहां की समाज चिरकाल पर्यन्त उस एकान्त की अवस्था में रही कि इस का संसार के साथ कोई सम्बन्ध ही न रहा। इस में स्वस्थ रगड़ न होने से जीवन के चिन्ह ही न रहे थे। बुद्धमत ने थोड़ी रगड़ उत्पन्न की जिस का फल त्याग के चिन्ह अर्थात् सहस्रों प्रकार के साधु अभी तक देश में पाए जाते हैं। जब इस्लाम की तरंग आरम्भ हुई तो पश्चिमोत्तर की ओर से एक नई क्रिया समाज पर हुई। इस क्रिया का एक राजनैतिक पक्ष यह था कि लूट मार की नीव पर असंख्य मानुषी राज्य देश में स्थापित होगए। जफर खां जैसे कितने ही मनुष्य उठे जिन्हों ने अपने राज्य स्था-

पित कर लिये । लोग राजनैतिक की दृष्टि से केवल भेंस की ग्याईं थे । जिस के हाथ में लाठी होती थी उसके आगे चल पड़ते थे जिस का प्रभाव यह हुआ कि आर्यों के अन्दर ऐसे मनुष्य उत्पन्न हुए जिन्हों ने इस विधि का पूरा अनुकरण किया और कई आर्य शासन स्थापित किए । मराठे, जाट और सिक्खजन के उदाहरण हैं । जिन की बची हुई रयासतें अभी लॉ पाई जाती हैं । अंग्रेजी राज्य की नींव आर्यावर्त में उन के स्वजाति प्रेम भाव पर है । उन्हों ने अपनी बुद्धि और देश भक्ति के बल पर अपना राज्य स्थापित किया है । इस लिये अंग्रेजी राज्य के नीचे आकर न केवल देश के भिन्न २ प्रान्तों और समाजों में एकता का विचार उत्पन्न हुआ है किन्तु प्रथमवार राजनैतिक विद्या प्राप्त हुई है कि प्रत्येक समाज का सभासद नीच अथवा उच्च विशेष नैतिक अधिकार रखता है । जो यत्न समूह रूप अथवा स्वकीय प्रयोजनों को सन्मुख रख कर स्वतंत्रता स्थापित वा प्राप्त करने के लिये की गई हैं वह अंग्रेजी शासन के साथ टकड़ा कर छिन्न भिन्न होगई । अंग्रेजी सम्बन्ध का अगाध प्रभाव आर्यावर्त में मान व राजनैतिक अधिकारों के आधार पर देश प्रेम की तरंग का चलना है जोकि जातीयता का नया जीवन है । यह जीवन एक अग्नि के सदृश है जिस में आर्यों के उच्च नीच का शेष और आर्य, सिक्ख मुसलमानों के धार्मिक विभेद भस्मीभूत हो जायेंगे और उन के स्थान पर मानुषी स्वतंत्रता और सामान्यता की सुगन्धित निकलनी आरम्भ होगी । इस अग्नि में आर्यावर्त के शताब्दियों के पाप और

मल जलेंगे किन्तु इस अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये स्वस्वार्थ की आहुति करना धर्म भी है।

———:o:———

क्या अंग्रेजी राज्य का भाव परिवर्तित किया जा सकता है ?

आङ्गल जाति ने आर्यावर्त में शान्ति और मानव समानता उत्पन्न करके लोगों के हृदयों को जीत लिया। समय आया, लोगों ने देखा कि यद्यपि वे परस्पर एक दूसरे के समान हैं किन्तु दूसरों की अपेक्षा उनके साथ बहुत नीच समझ कर बर्ताव होता है। दूसरा यह कि शान्ति का प्रयोजन लोगों को उन्नत करने का अभिप्राय नहीं किन्तु अंग्रेजी राज्य को अशान्ति से दूर रख कर आर्यावर्त से आर्थिक तथा वाणिजिक लाभ उठाना अभिप्राय है आङ्गल जाति के अन्दर एक विचार बड़ा विशाल प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के ऊपर सदैव उनका विजयपताका रहे। यदि लोगों के हृदय आङ्गल राज्य के साथ हों तो विजयपताका का विचार मित्रता का रूप धारण कर लेता है, हृदय साथ न होने से दासत्व में परिवर्तित हो जाता है। भाष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि राज्य के दुर्गों से प्रजा का प्रेम सब से दृढ़ दुर्ग है। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे लोगों के हृदय उसके साथ रह सकें। इसकी केवल एक ही चिकित्सा है वह यह है आङ्गल-जाति के चित्त में यहां के लोगों के लिये न्यूनातिन्यून इतना सम्मान और प्रेम हो जो कि मनुष्य को मनुष्य के लिये होना

आवश्यक है। मुझे तो यह प्रश्न आर्थिक लाभ वा देश की बढ़ाई का इतना प्रतीत नहीं होता जितना कि मान का। यदि अंग्रेजों का आर्यावर्त को अपने साथ रखकर संसार में राजनैतिक महत्त्व बढ़ता रहे तो उसमें हमारे लिये कोई दुःख का स्थान नहीं। यदि उनके व्यापार को विशेष लाभ हो तो उसमें कुछ हानि नहीं। जैसा जातियों के अन्दर श्रेणियों में व्यापार आवश्यक है वैसा ही भिन्न २ जातियों के मध्य पारस्परिक बाणिज्य सम्बन्धी व्यवपार भी आवश्यक है। अंग्रेजी जाति के अन्दर धनवाली श्रेणी विद्यमान् है जो निर्धन श्रेणियों से लाभ उठाती है। यह नियम तो संसार में प्रचलित रहेगा जब लों संसार कार्य निर्वाह सम्बन्धी समानता स्थापित नकी जायेगी। हमारा देश केवल इतना ही हैंकि हमारा अस्तित्व संसार से नष्टनहो। जातीय सभ्यता का नाश करना उस जाति को संसार से मिटाना है। बृटिश चर्च और सभ्यता का बीज उन का अपना नहीं है किन्तु इस में यहूदी जाति की कथायें भरी हैं। आङ्गल जाति जाति वा कुल में यहूही जाति से नहीं मिलती किन्तु आर्य जाति से। आर्य जाति की आरम्भिक सभ्यता को केवल आर्यों ने अब तक बचा रखाहै। आङ्गल जाति का आर्य जाति होने से धर्म है कि इस सभ्यता की रक्षा में सहायता दें।

भाषा का नाश जातीयता का नाश है।

१९२–जहां २ पर अरब लोगों ने विजय प्राप्त की वहां के

लोगों को अपने साथ सम्बद्ध करने की, नीति को दृष्टि में रख कर उन की सभ्यता को मिटा कर अरबी सभ्याता को स्थापित किया । मिश्र, इरान इत्यादि देशों में ऐसा किया गया। मिश्र में जहां कि भाषा में बहुत भेद था भाषा को मिटा कर अरबी भाषा को प्रचलित किया गया, जर्मनों ने ऐलसिस लूरान में फ्रेन्च भाषा के स्थान में जर्मन को जातीय भाषा बनाने की चेष्टा की। आयरलैण्ड में आयरिश के स्थान आङ्गल-भाषा को पूर्ण विजय प्राप्त हुई। हरितवर्णीय जातियों का असभ्य जातियों के अन्दर तो ऐसा करना आवश्यक धर्म समझ रखा है। आङ्गल स्थान ने आर्यावर्त में भी इसी नीति पर क्रिया करने की चेष्टा की है। आङ्गल भाषा को न्याय सभाओं की और विद्या की भाषा कह कर लोगों को ऐङ्गलोसाईज करना अपने लिये लाभदायक समझा है। निस्सन्देह एक विधि दूसरों को अपने साथ सम्बद्ध करने की यही है कि इन के अन्दर अपनी सभ्यता के लिये प्रेम उत्पन्न किया जाए। परन्तु यह ठीक होता यदि आर्यों की संख्या थोड़ी होती। यद्यपि अंग्रेजी सभ्यता पर मोहित होने वाली एक श्रेणि उत्पन्न होती रहेगी किन्तु वह सदा समाज से पृथक होती जायेगी। इस लिये दूसरी विधि जो आंगल जाति आर्यों को अपने साथ जोड़ने का प्रयोग कर सकती है वह यह है कि वह अपनी जाति के अन्दर यहां की सभ्यता के लिये प्रेम, और यहां की भाषा और साहित्य को सीखने की लालसा उत्पन्न करें। साथ ही इस देश की भाषा और साहित्य को उन्नत करने के लिये न्याय सभायों तथा विश्वविद्यालयों

में भाषा प्रचलित कर दें। यह सुगमता से किया जा सकता है। जो अंग्रेज यहां राजकीय नौकरी में आयें वे यहां की भाषा तथा साहित्य से भली प्रकार परिचित हों उन को शिक्षा देने का उचित प्रबन्ध होना चाहिये। उन के चित्त में हमारे लिये प्रेम होगा और उस प्रेम से वे हमारे चित्तों को जीत सकेंगे। यहूदी लोग रोमा वालों के विजित थे। यूनान तथा रोमा वालों ने उन से अपना मत स्वीकार किया और समस्त हरिवर्ष की आर्यजातियों को यहूदी मत का अनुयायी बनाया। क्या हानि है यदि अंग्रेज अपने विजितों से आरम्भिक आर्य सभ्यता को धारण करके पुनः आर्यजाति में इस का प्रचार करें।

कहते हैं कि एक पुरुष जा रहा था उसे पर्वत के शिखर पर एक भूत दृष्टिगोचर हुआ। आगे बढ़ने पर उसने देखा कि वह एक मनुष्य था। आगे चलते हुए जब एक दूसरे से मिले तो विदित हुआ कि उसका अपना भाई था। यद्यपि दूरी अत्यन्त चिरकाल की है परन्तु यदि इसी दूरी को हृदय में तै करके देखेंगे हरिवर्षीय जातियां आर्यसभ्यता को ईसाई मत के मुकाबले पर अपना पायेगी।

आर्यों और यवनों के सम्बन्ध।

१६३-इसी देशमें यवनोंकी संख्याका विशेष भाग है। अब समय के परिवर्तनों से यवनीय संख्या के हृदय में इस देश को स्वदेश समझ कर देशभक्ति उत्पन्न होगई है। अब तक इनके अन्दर देश के प्रेम के स्थान में धार्मिक उत्साह ही

काम करता था। यवन अरबी सभ्यता के प्रेमीथे इसलिये उस सभ्यता के साथ इस्लाम का फैलाना ही उनका मिशन रहा। देश के प्रेम ने एक दृढ़ भाव उत्पन्न कर दिया है कि राजनैतिक दृष्टि से वे आर्यों के साथ एक जाति हैं और एक जाति होने पर उन्नति कर सकते हैं। इसके साथ वे अपने धार्मिक अस्तित्व को स्थित रखना चाहते हैं अपनी सत्ता स्थित और दृढ़ रखते हुए वे आर्यों के साथ एक हो कर करने पर उद्यत हैं। जिसको अपनी सत्ता नहीं उसे दूसरों से एकता की क्या आवश्यकता, उसे उत्साह और त्याग की क्या आवश्यकता? दूसरे के साथ मेल और त्याग इस लिये लोग करते हैं कि वे अपनी भलाई उसमें देखते हैं।

हमारे जीवन में बहुत सा भाग हमारे संसारिक सुख में व्यय होता है। जाति के संसारिक सुख में प्रत्येक सभासद की भलाई पाई जाती है, अतः आवश्यक और उचित यही है कि विवादास्पद के निर्णय का कोई मार्ग निकाल कर हम परस्पर द्वेषभाव को दूर करने का यत्न करें। विवादास्पद बातों में सबसे प्रथमतो मतपरिवर्तन है। मतपरिवर्तन की चिंगारी अकारण डालकर परस्पर द्वेष उत्पन्न करना निरर्थक है, परन्तुयदि मतपरिवर्तन की आज्ञा हो दोनों मतों के प्रत्येक व्यक्ति को इसमें पूरी स्वतन्त्रता हो। इस प्रश्न को कभी जातीय रूप न दिया जाए। भाषा का तो नाममात्र का भेद है क्योंकि आर्यभाषा और उर्दू वस्तुतःएकही भारतीयभाषाहैं। भेद केवल लिपिका है। एक के स्थान में दोनों प्रकार के अक्षर परस्पर समझे जा सकते

हैं । उदाहरणार्थ जैसे अन्य प्रान्तों में बङ्गला, मराठी, गुजराती का प्रचार है वैसे पञ्जाब में पञ्जाबी को वहीं स्थान देना चाहिये । गौवध के विषय में दोनों दलों को विचार से काम लेना चाहिये । यदि कोई मुसलमान किसी मतवाद के विश्वास से बलि आवश्यक समझें तो आर्यों के मन को कष्ट न देकर गुप्त रीति से अपनी रीति पूरी करलें । दिखा कर मानसिक भावोंको भड़काना बुराहै । न्यूनातिन्यून इसे सर्वथा बंद कर देना चाहिये । यद्यपि देशका पारस्परिक सामाजिक लाभ तो इसी में है कि गौ की सर्वतो भावे न रक्षाकी जाये ।

आर्य सभ्यता की रक्षता हमारा कर्तव्य है ।

१६४–वेद आर्योंका धर्म चिन्ह है, और गौ उनकी देशीय एकता और सामाजिक भलाई का है । आर्य्य की प्रसन्ता यह ठीक की गई है कि जो गौ, ब्राह्मण की रक्षा करे । ब्राह्मण वेद का रक्षक है । राजनतिक दृष्टि से नपालों एक आर्य राज्य है जो कुछ २ स्वतंत्र है । वहां धर्म का यह अंग विद्यमान है । उसको आधुनिक काल के अनुसार लाना आर्यसभ्यता की रक्षा की एक विधि है ।

आर्यों को यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि उनकी सभ्यता संसार से मिट गई तो उनकी सत्ता मिट गई। सभ्यता त्याग कर न जीना अच्छा है न मरना अच्छा है। धन संपत्ति की चिन्ता न कर के जीवन बचा लेना चाहिये, किन्तु जीवन की चिन्ता न रख कर धर्म बचाना चाहिये। धर्म और मान एक ही हैं।

इस जाति का मिशन एक ही रहा है कि उसने सब तूफान शिर पर झेल कर संसार की सब से प्राचीन सभ्यता को बचाया जोकि अन्य किसी जाति से नहीं हुआ। दासत्व बुरा समझा जाता है और राजनैतिक स्वतंत्रता की इतनी प्रशंसा की जाती है कि कहा जाता है इस के लिये हमें सब कुछ बलिदान कर देना चहिये। इस का कारण यह है कि दासत्व में जातियां अपनी सत्ता को खो देती हैं। अपनी सत्ता को खो देने से यदि स्वतंत्रता मिल जाए तो वह स्वतंत्रता किसी काम की नहीं। देश के वर्तमान संग्राम में आर्यों को सब से बड़ कर भय है। यह जाति इतनी पुरातन और बुड्ढा हो चुकी है कि इस में न बल है न शक्ति है। जीवन के चिन्ह ही लुप्त प्रतीत होते हैं अन्धः पतन इतना है कि इस के अपने पुत्र इस से इतनी घृणा करते हैं कि वे इस के नाम से भयभीत होते हैं। वृद्धावस्था के अतिरिक्त लज्जा का भयानक रोग इसको

अन्दर से शून्य कर रहा है। जिन जातियों को हम ने नीच कह कर अछूत बना रखा है वे हमारे पाओं की शृंखला के सदृश बन रहे हैं। केवल एक विचार मनुष्य को मनुष्य बनाता है कि वह सब के समान है और उसे सब अधिकार प्राप्त हैं। धार्मिक तथा सामाजिक अन्याय के नीचे दबे हुए लोगों में उत्साह और वीरता उत्पन्न नहीं हो सकती। जब हम आज्ञल जाति से समानता तथा न्याय मांगते हैं तो इस से पूर्व हमें समानता और न्याय अपने भाईयों को देना चाहिये नहीं तो समानता तथा न्याय की वार्तालाप छल कपट में गिनी जायेगी। हमारी रीतियों में लज्जा भरी है। विवाह की रीति देखें। बालक और कन्या बैठी हैं। उन के लिये प्रतिज्ञा के वेद मन्त्र पुरोहित पढ़ देता है। उन्हें इन के अर्थ ही ज्ञात नहीं। यज्ञोपवीत संस्कार के समय आठ वर्ष का बालक चर्म पहिन कर दण्ड हाथ में लिये वन में गुरु के पास विद्या अभ्यास के लिये जाता है और थोड़े क्षण के अन्दर सब विद्या संपूर्ण करके लौट आता है। मूर्तिपूजा में यदि कुछ सत्ता थी तो वह उड़ गई और केवल ढांचा सा रह गया। वही सोम नाथ जिस के लिये शुद्ध गङ्गा जल लाने के लिये सहस्रों पुरुष नौकर थे, जिस के आगे पूजा के समय सहस्रों कन्याएं प्रतिदिन नाच किया करती थीं यदि उस पर विश्वास होता और

आभास न होता तो महमूद के आक्रमण के समय राजपूत राजे जीवन दे कर ढेर हो जाते। इसी प्रकार के कई और तमाशे और ठगियां अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये की जाती हैं। यह धूर्तता इस जाति के अन्दर घुस कर दीमक की नाईं खा रही है। आङ्गल भाषामें शेम (Shame) शब्द इस लज्जा को प्रकट करता है।

१९५-केवल एक ही संतोष देने वाली बात है कि यदि यह जाति और उस की सभ्यता इतने यत्नों के अन्दर काल के अन्दोलनों में नाश न हुई और बच निकली है तो अब आशा की रेखा हमारे स्तब्ध हृदयों में उत्पन्न हो जाती है। जातियां निस्सन्देह उन्नति और अवनति करती हैं। यदि एक जाति की सभ्यता में ऐसी शक्ति विद्यमान है कि वह उस जाति के अन्दर जीवन स्थित रख सके तो गिरी से गिरी हुई अवस्था में उस सभ्यता के प्रिय उत्पन्न होते हैं जो कि अपने जीवन की सारी शक्ति मरती हुई जाति में डाल देते हैं और उसे जीवित कर देते हैं। मुसलमानी आक्रमणों के समय आर्यों की इतनी सुप्त अवस्था थी कि एक २ पठान सिपाही सैकड़ों आर्यों को पकड़ कर दास बना कर ले जाता था। यदि चित्त में आता तो वध कर देता था। इस की प्रतिक्रिया गुरु गोविन्द ने निकाली। "बड़े यज्ञ" के शिर देने वाले सिंह उत्पन्न किये जिन का

नाम साहस रखा। पुराणों में भी विधि वर्ती हुई बताई गई है। जब वेद धर्म का नाश होने लगा था तो ऐसा ही यज्ञ करके "अग्नि कुल" राजपूत उत्पन्न किये गए थे। वह औषधि यही है कि आत्मा को मृत्यु के भय से ऊपर कर दो। मृत्यु का भय दूर हो जाने से मुरदा जीवित हो जाता है। गीता में यही ज्ञान अर्जुन के ध्यानावस्थित किया गया है कि इस आत्मा को शस्त्र छेद नहीं कर सकते। अग्नि जला नहीं सकती। इसको जल दुःख में डाल नहीं सकते। इस को पवन सुखा नहीं सकती। अर्जुन! तुम कुमार्ग पर हो। यह आत्मा मरता है वा इसको कोई मार सकता है? गुरु हर गोविन्द की वाणी में गीता का ज्ञान भरपूर है। उन की चिता जब सहस्र मन चन्दन डाल कर बनाई गई तो उन के शिष्य जिन में दो बड़े राजपूत थे दौड़ २ कर उन की चिता में उन के साथ भस्मी भूत होने के लिये कूदते थे। प्रेम और मृत्यु से प्रमाद का ऐसा दृश्य संसार में न्यून ही दिखाई दिया है। इस उपचार विधि के वर्तें जाने से बन्दा वीर उत्पन्न हुआ जिस ने उन्हीं मुसलमानों के साथ युद्ध किया। मुसलमान अफसर समझते थे कि बन्दा सिद्ध है उस ने मृत्यु जीत ली है। उस के प्रति युद्ध में जो अफसर भेजा जाता था। सेना लेकर लौट आता था। इन्हीं जीवन रहित आर्यों को बन्दा वैरागी ने पंजाब भर

में विजयी जाति बना दिया। वे निर्भय हो गए। बन्दे को अपने भाइयों के विभेद ने पकड़वाया और विजयी सेनापति से शत्रु के कैदी बनाया। यह बन्दे के सिक्ख थे जो कि देहली में दौड़ कर तोप के मुख में जाते थे। बन्दा का पुत्र था जिसको चीर कर उस का हृदय निकाल कर बन्दे के मुख पर फैंका। उसे भी तपी हुई सलाखों से मार कर शरीर छोड़ना पड़ा परन्तु परमात्मा का नाम उस की जिह्वा पर रहा।

गीता प्रेम का भाव उत्पन्न करके मृत्यु से निरपेक्ष बना देती है।

१९६-ज्ञान तो यह है कि यह आत्मा अमर है। मृत्यु इसे पहुंच नहीं सकती। साथ ही कृष्ण अर्जुन को स्पष्ट कहता है कि तुम अपना तन मन मेरे प्रेम के अर्पण करो। मैं तुम्हें इस भयानक संसार सागर से पार ले जाऊंगा। दूसरी शक्ति जो निर्भयता उत्पन्न करती है वह प्रेम है। प्रेम के भाव के अर्थ त्याग के हैं। जितना त्याग अधिक होगा उतनी ही अधिक प्रेम की सच्चाई प्रतीत होती है।

सच्चा प्रेम सर्वथा त्याग से बना है। दिखावेका प्रेम स्वार्थ का बना होता है।

मजनूं की कथा प्रायः सब लोग जानते हैं। यह पुरुष लेला को प्रेम करता था। उस का प्रिय था। लेला के इशारे पर एक स्थान पर खड़ा हो गया। बिना भोजन और जल के वहां खड़ा रहा चिरकाल व्यतीत हो गया लेला को उस का विचार आया। उस ने एक कटोरा दूध का एक स्त्री के हाथ भेजा। मार्ग में एक मुल्ला से उस ने पूछा कि मजनूं कहां हैं? उसने कहा क्यों? स्त्री ने बताया कि लेला ने दूध भेजा है। मुल्ला ने कहा, मैं ही हूं और दूध लेकर पी लिया। कई दिन और व्यतीत हो गए, लेला को संशय हुआ, उस ने स्त्री से पूछा तो विदित हुआ कि मजनूं बड़ा स्थूल है और न उसे कुछ और चिन्ता है। लेला ने शून्य कटोरा दिया और स्त्री से कहा कि आज लेला ने कुछ रक्त मांगा है उसे आवश्यकता है। जब उस स्त्री ने मुल्ला से जाकर रक्त के लिये कहा तो झट वह बोल उठा, ओ हो! मजनूं तो वह झाड़ी के निकट खड़ा है। वह मजनूं के पास कटोरा ले गई और लेला का सन्देशा जा बताया। मजनूं ने कटोरा पहिले चूमा और फिर अपने सूखे हुए पञ्जर से रक्त निकाल कर उस के समर्पित किया।

कथा साधारण है परन्तु इस दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है कि प्रेम के दो भेद स्पष्ट प्रकट करती है। संसार में दूध पीने वाले प्रेमी तो बहुत मिलते हैं। रक्त देने वाला कठिनता से कोई ही निकलता है।

गीता का पढ़ने वाला कोई ही होगा जिस के चित्त में कृष्ण के प्रेम में अपने आप को अर्पण करने के लिये कामना उत्पन्न न हुई हो। कृष्ण क्या है? आर्य जाति की अमूर्तता है। राम और कृष्ण दो नाम आर्य जाति की आत्मा हैं। हमारा जातित्व सब से बढ़कर इन दो नामों से बन्धा है। दो नाम हम से निकल जावें हमारी जाति अजीवित है। यदि हमारा कृष्ण से सच्चा प्रेम है तो हम निकलें और जाति के लिये आत्म भाव का त्याग करें।

पक्षी वृक्ष पर बैठे थे, वृक्ष को अग्नि लगी थी। कवि कहता है,

"आग लगी इस वृक्ष को जलन लगे पात,
तुम क्यों जलो ऐ पक्षियो! पंख (पक्ष) तुम्हारे साथ।
फल खाया इस वृक्ष का गन्दे कीने पात,
यही हमारा धर्म है जलेंगे इस के साथ।

[illegible] की कथा।

१७–इस जाति के अन्दर अत्यन्त प्राचीन काल से आत्मा को शरीर से पृथक कैसे अमर और निर्भय समझा जाता रहा है, भिन्न २ समयों के दृष्टान्तों से प्रकट होता है। महाभारत के युद्ध के समय की एक कथा चली आती है।

एक पुरुष बबलवाहन के सम्बन्ध में जिसे आज तक देशु महाराज बनाकर प्रतिवर्ष पूजा जाता है यह लेख है। अपने हाथ में धनुषबाण लिये युद्ध की ओर जा रहा था। कृष्ण भेस बदले हुये उसके पास पहुंचा। कृष्ण ने प्रश्न किया किधर जा रहे हो? उत्तर दिया युद्ध को। पूछा, धनुष बाण क्यों लिया है? जब समय आवेगा मैं भी युद्ध में भाग लूंगा। पूछा, किस पक्ष की ओर से लड़ोगे। उत्तर दिया जो पक्ष दुर्बल होकर हारने लगेगा उस की सहायता करूंगा। धनुष बाण से क्या होगा। उसने कहा कि इस में ऐसी शक्ति है कि एक बाण चलाने से वृक्ष के सब पत्तों में छेद कर देगा। कृष्ण इससे व्याकुल हुआ और समझा कि यह तो बड़ा बलवान शत्रु सिद्ध होगा। अन्त को एक उपाय निकाला। उस से कहा कि तुम इतने शूरवीर हो मांगने पर कुछ दान दोगे? देशु महाराज बोले, मांगो क्या

है ? जब कि कुमारिल [illegible] विद्यमान है।" कुमारिल-भट्ट को बौद्धों के विरुद्ध क्रोध था। वह उन के विद्यालय में गया और उनके धर्म का अच्छी प्रकार अध्ययन किया और फिर अपना जीवन उनके मत के खण्डन में और वेद रक्षा में लगा दिया। [illegible] और शङ्कराचार्य दो बड़े नाम हैं जिनके विषय में कहा जाता है कि उनकी विद्वत्ता और प्रचार से बौद्धमत इस देश से एक प्रकार निकाल दिया गया। कुमारिल भट्ट के चित्त में सर्वदा एक बात का शोक रहता था कि उस ने बौद्धों को गुरु बनाने में एक प्रकार के छल से काम लिया। अपने आत्मा से इस कलङ्क को धोने के लिये प्रायश्चित करना चाहता था। काम समाप्त करने के पश्चात् प्रायश्चित का यह निर्णय किया कि चावलों के छिल्कों का ढेर एकत्रित करके उसकी अग्नि में शरीर को भस्मीभूत कर दे। उसने छिल्के एकत्रित किये और ढेर के अन्दर बैठकर अग्नि लगा दी। शरीर को भस्मीभूत कर दिया ताकि आत्मा पर कोई कलङ्क न रहे।

देहली में बलिदान की साक्षी।

कई और शताब्दियां व्यतीत होगईं। औरङ्गजेब का काल आया। आर्य पुरुष अन्याय से दुःखित हुए। कश्मीर के ब्राह्मण गुरु तेग़बहादुर के पास सहायता केलिये आये। कश्मीर के ब्राह्मणों पर क्रूरता और कठोरता का अत्यन्त हो गया। वन्दनीय हैं वह कुल जिन्हों ने कि सारे कष्ट शिर पर झेल लिये, जिन्हों ने कि समग्र कश्मीर मुसलमान होते हुए भी धर्मोन्नति और टीका की लाज रखली। गुरु ने कहा कि किसी महापुरुष के बलिदान से यह अन्याय दूर होगा। तेग़बहादुर बोला'

बन्धन पड़े और बल गयो कछु न होत उपाय"
कहो नानक अब ओट हर तुमही हो सुहाए"

जिस पर गुरु गोबिन्द बोल उठा।

"बन्धन टूटे और बल हो यह सबही होत उपाय,
सब कुछ तुमरे हाथ में, तुम ही हो सुहाय"।

राजा के पास सूचना पहुंची कि एक गुरु को मुसलमान कर लेने से सब आर्य मुसलमान हो जायेंगे। राजा ने गुरु को बुलवा भेजा। गुरु तेग़बहादुर पूर्व ही उधर चल पड़े। कोई पांच सौ शिष्य सिक्ख उनके साथ थे। कुछ दूर जाकर उन्हों ने सबको लौटा दिया। केवल पांच सात

रह गये। आगरा में पकड़े गये और देहली में नज़र बन्द कर दिये गये। उन के साथ एक ब्राह्मण पतीदास भाई थे। इन के पिता, पितामह, परपितामह गुरु हर-गोबिन्द की सेना में जमादार थे। राजा ने काज़ी लोग गुरु के पास शास्त्रार्थ कोभेजे। वे गुरुसे प्रश्न करतेथे जिस पर मती दास के चित्त में उद्वेग सा आ गया। उसने गुरु से कहा यदि आप आज्ञादें तो एक क्षण में राज्य का नाश कर दूं। यह सूचना राजा के पास पहुंची। राजा ने आज्ञा दी कि इस पुरुष के शिर पर आरा रख कर चीर दिया जाए। शिर पर आरा रखा गया। शरीर के दो टुकड़े शनैः २ होते गए। दोनों टुकड़ों से नाम का शब्द निकलता था। उनकी आत्मा ब्रह्म में लीन हो गई। उन के लिये राज्य की शोभा क्षण में नष्ट हो गई। यह एक ब्राह्मण था जो कि देहली नगर में सब से पहिला बलिदान हुआ।

इत्योऽम्॥

बद्रीप्रसाद शुक्ल ने देशबन्धु प्रेस, बाराबंकी में छापा।

भगवद्गीता ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोला = हे सञ्जय ! पवित्र कुरुक्षेत्र पर जब पाण्डव और मेरे पुत्र युद्धाभिलाषी एकत्रित हुए तो उन्होंने क्या किया ? ॥ १ ॥

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

अर्थ—सञ्जय बोला—जब राजा दुर्योधन ने पाण्डवों की सेना को व्यूह रूप से खड़ी की गई को देखा तो वह आचार्य के समीप जाकर यह बोला ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपद पुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अर्थ—हे गुरो ! पाण्डवों की इस बड़ी सेना को देखो । तुम्हारे बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र से व्यूह रूप से खड़ी की गई है ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

अर्थ—इस में भीम, अर्जुन जैसे बड़े शूरवीर बाण चलाने वाले योधा हैं जैसे कि युयुधान, विराट, बड़े रथ वाले द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान काशी का वीर राजा, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैव्य ॥ ॥ ४, ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्वएव महारथाः ॥ ६ ॥

अर्थ—बलवान् युधामन्यु, वीर उत्तमौजा, सौभद्र और द्रुपद के पुत्र यह सब बड़े रथ वाले हैं ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अर्थ—हे द्विजों में उत्तम ! हमारी ओर जो बड़े २ हैं उन को जान । मेरी सेना के जो नायक हैं उनको तेरे जानने के लिए कहता हूं ॥७

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अर्थ—आप, भीष्म, कर्ण और युद्ध जीतने वाला कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण और सौमदत्ति ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नाना शस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अर्थ—और भी बहुत से शूरवीर हैं जो मेरे लिए प्राण त्यागने को उद्यत हैं । सब ही युद्ध विद्या में निपुण हैं और नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र उन के पास हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितं ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितं ॥ १० ॥

परन्तु हमारी सेना अपर्याप्त है यद्यपि भीष्म इस के सेनापति हैं । उन की सेना पर्याप्त प्रतीत होती है यद्यपि भीम उस के नायक हैं ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथा भागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अर्थ—इसलिए तुम सब अयनों में (युद्ध के मार्गों में) अपने २ स्थान पर ही खड़े रह कर भीष्म की रक्षा करो ॥ ११ ॥

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखंदध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

अर्थ—उस की (दुर्योधन) को प्रसन्न करने के लिए प्रतापी भीष्म जी ने जो कि कुरुवंश के बड़े थे सिंहनाद करके अपना शंख बजाया ॥१२

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

अर्थ—तब शंख, नगारे, तम्बूर, ढोल और सींङ्ग एक बार ही बजने लगे और वहां कोलाहल उत्पन्न हो गया ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

अर्थ—फिर अर्जुन और श्रीकृष्ण ने जो श्वेत घोड़ों वाले बड़े रथ में बैठे हुए थे अपने दिव्य शंख बजाए ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण जी ने पाञ्चजन्य को (शंख का नाम), अर्जुन ने देवदत्त को और भयंकर कार्यों के करने वाले भीमसेन ने बड़े शंख पौण्ड्र को बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अर्थ—कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय को, नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक को बजाया ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

अर्थ—बड़ा बाण चलाने वाला काशी का राजा, महारथ वाला शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और कभी जीते न जाने वाला सात्यकि, द्रुपद और द्रौपदी के पुत्र और हे पृथिवी के पति ! बड़ी भुजाओं वाला अभिमन्यु, सब के सब अपने २ शंख बजाने लगे ॥ १७, १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अर्थ—उस शोर ने धृतराष्ट्र की सेना के हृदयों को हिला दिया और पृथिवी और आकाश गूञ्ज उठे ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥

अर्थ—तब धृतराष्ट्र की सेना को खड़े हुए देख कर जब शस्त्र चलने वाले हो ये तो वानर चिह्न के झण्डे वाले अर्जुन ने अपने धनुष को उठाया॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

तब वह कृष्ण को यह वचन बोला । पृथिवी के स्वामिन् !

अर्जुन उवाच ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे अच्युत । दोनों सेनाओं के मध्य में मेरे रथ को खड़ा कर ॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योधव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

अर्थ—कि मैं इन युद्ध के अभिलाषियों को खड़े हुए देखूं, कि किन्हों ने मेरे साथ इस रणक्षेत्र में युद्ध करना है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अर्थ—मैं उन युद्ध करने वालों को देखूं जो यहां दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र के पुत्र को युद्ध में प्रसन्न करने के लिए आए हैं ॥ २३ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

हे भारत ! गुडाकेश, से ऐसे कहे जाने पर श्रीकृष्ण ने दोनों

सेनाओं के मध्य में, भीष्म, द्रोण और सब राजाओं के सामने श्रेष्ठ रथ को खड़ा करके यह कहा, हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख ॥२४,२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य सकौंतेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥

अर्थ—तब अर्जुन ने वहां खड़े हुए पितरों, दादों, गुरुओं, मामों, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों तथा सुहृदों को दोनों सेनाओं में देखा। उन सब बन्धुओं को खड़ा देख कर वह कुन्ती के पुत्र अर्जुन के दिल में दया भर आई और बड़े शोक से यह बोला ॥ २६, २७ ॥

अर्जुन उवाच ।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए इस अपने जन को देख कर मेरे अङ्ग ढीले होते जाते हैं, मुख सूखा जाता है । मेरा शरीर काम्पता है और रोंगटे खड़े होते हैं ॥ २८, २९ ॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

अर्थ—मेरा गाण्डीव हाथ से गिरा जाता है और त्वचा जली जाती है, मैं खड़ा नहीं हो सकता और मेरा मन चक्र खा रहा है ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

अर्थ—और हे कृष्ण ! मुझे बुरे२ शकुन दिखाई देते हैं और न ही भाई बन्धुओं को युद्ध में मार कर कोई भलाई देखता हूं ॥ ३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्य सुखानि च ।
कि नो राज्येन गोबिन्द कि भोगैर्जीविते न वा ॥ ३२ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! मैं विजय, राज्य तथा सुख कुछ नहीं चाहता हूं । राज्य, भोगों और जीवन से हमें क्या फल मिलेगा ? ॥ ३२ ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

अर्थ—जिन के लिए हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं वे प्राणों और धनों को त्याग कर युद्ध में खड़े हैं ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामिघ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

अर्थ—गुरु, पितर, पुत्र और वैसे ही दादे, मामे, ससुरे, पौत्र, साले तथा सम्बन्धी, इन को मैं मारना नहीं चाहता तीनों लोकों के राज्य के लिए भी, क्या केवल इस पृथिवी के लिए, हे मधुसूदन ! चाहे यह मुझे मार भी दें ॥ ३४, ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर हमें क्या खुशी होगी ? इन आततायिओं को मार कर हमें बस पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अर्थ—इसलिए हमें अपने बन्धुओं को इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को नहीं मारना चाहिए। हे कृष्ण ! अपने भाई बन्धुओं को मार कर कैसे सुखी हो सकते हैं ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—यद्यपि यह लोग कुल के नाश से होने वाली बुराई को और मित्रों के साथ बुराई करने के पाप को नहीं समझते हैं, क्योंकि इन के मन लोभ में फंस गए हैं ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अर्थ—तथापि, हे कृष्ण ! हम तो कुलक्षय के दोष को देखते हैं, इसलिए हम स्वयं क्यों न इस पाप से हट जाएं ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः ।
धर्म्मेनष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अर्थ—कुल के नाश होने पर सदा के जो कुलधर्म हैं वे नाश हो जाते हैं। धर्म के नाश होने पर सारा कुल अधर्म में डूब जाता है ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

अर्थ—अधर्म के बढने से, हे कृष्ण ! कुल की स्त्रियां दूषित हो

जाती हैं और स्त्रियों के दुष्ट होने पर हे वार्ष्णेय ! वर्णसंकर हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

अर्थ—यह संकर कुलघातकों के और कुल के नरक के लिए ही होता है क्योंकि इन के पितर पिण्ड और उदक क्रिया से लुप्त हुए २ गिरते प्रतिष्ठा से हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतै कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

अर्थ—कुल के नाश करने वाले लोगों के इन दोषों से जो कि वर्णसंकर बनाने वाले होते हैं सदा के जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! हम ने सुना है कि जिन मनुष्यों के कुलधर्म नाश हो जाते हैं उन का वास निःसंदेह नरक में होता है ॥ ४४ ॥

अहोवत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अर्थ—हा शोक ! हम बड़ा पाप करने को उद्यत हो गए हैं जो कि राज्य के सुख के लोभ से अपने बन्धुओं को मारने को तय्यार हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—यदि हाथों में शस्त्र पकड़े हुए धृतराष्ट्र के पुत्र बिना हाथ उठाये और शस्त्र रहित मुझ को युद्ध भूमि में मार दें तो वह मेरे लिए अच्छा हो ॥ ४६ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

रणक्षेत्र में ऐसा कह कर अर्जुन रथ के आसन पर बैठ गया। धनुष बाण को छोड़ दिया और उस का मन शोक में डूब गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन विषाद योगोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

सञ्जय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

तब अर्जुन इस प्रकार दया के भाव से शोक में डूब गया और उस के नेत्र अश्रु से भरे हुए को और उदास हुए को श्रीकृष्ण जी उस से यह वचन बोले ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! इस कठिन समय में यह उदासीनता तुझ पर कैसे छाई है ? यह अनार्यों से सेवित, नरक में ले जाने वाली और अपयश के करने वाली है ॥ २ ॥

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अर्थ—नपुंसकता को मत प्राप्त हो हे पार्थ ! यह तेरे योग्य बात नहीं है । इस क्षुद्र हृदय की दुर्बलता को त्याग कर हे परन्तप ! खड़ा होजा ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

हे कृष्ण ! हे अरिसूदन ! कैसे मैं युद्ध में भीष्म तथा द्रोण पर बाण चलाऊं ? यह तो पूजा करने योग्य है ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्, श्रेयो भक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थ कामांस्तु गुरूनिहैव, भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥५॥

अर्थ—इस संसार में महानुभाव गुरुओं को न मार कर भिक्षा का अन्न भी खा लेना अच्छा है । इन हमारा भला चाहने वाले गुरुओं को मार कर मैं यहां ही रुधिर से लिबड़े हुए भोगों को भोगूं ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम, स्तेवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

अर्थ—मैं तो यह भी नहीं जानता कि हमारे लिए कौन सी बात अच्छी होगी, यह कि हम जीत जाएं वा हम हार जाएं । जिन को मार कर हम जीना नहीं चाहते हैं वे धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः, पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं

अर्थ—मेरा मन कृपणता के दोष से दबा हुआ है । मैं कर्तव्य में संदिग्ध हुए मन वाला तुझ से पूछता हूं, जो अच्छी बात है वह ठीक २ मुझे कहो । मैं तेरा शिष्य हूं और तुम्हारी शरण आया हूं । मुझे उपदेश कीजिए ॥ ७ ॥

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्या, द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं, राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

अर्थ—क्योंकि मैं नहीं देखता हूं कि जो शोक मेरी इन्द्रियों को सुखा रहा है वह कोई दूर करे । चाहे पृथिवी पर मुझे अनुपम राज्य क्यों न मिल जाए और चाहे मैं देवताओं का भी स्वामी क्यों न हो जाऊं ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषिकेशं गुडाकेशं परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

शत्रुओं को जीतने वाला अर्जुन श्रीकृष्ण को ऐसा कह कर कि "मैं नहीं लड़ूंगा" यह गोविन्द को कह कर चुप हो गया ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अर्थ—हे भारत ! दोनों सेनाओं के मध्य में उदास हुआ २ श्रीकृष्ण हंसता हुआ उसको यह वचन बोला ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ॥ ११ ॥

तू उन लोगों के लिए शोक करता है जिन के लिए शोक करना ही न चाहिए फिर भी बुद्धियुक्त बातें कहता है । बुद्धिमानू न जीते हुओं का न मरे हुओं का शोक करते हैं ॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वंनेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

अर्थ—न ही मैं नहीं था न ही तू न यह राजे, न ही हम सब इस के परे (जन्म के परे) ऐसे ही न रहेंगे ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

अर्थ—जैसे देह में देह वाला अर्थात् जीवात्मा को बचपन जवानी और बुढ़ापा होता है वैसे ही देह के पश्चात् दूसरे देह की प्राप्ति है, धीर इस में मोह नहीं करता ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

अर्थ—हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! मात्रा स्पर्श शीत, उष्ण, सुख, दुःख के देने वाले हैं, यह आने जाने वाले हैं और नित्य नहीं हैं, इसलिए हे भारत ! तू इन को सहन कर ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अर्थ--हे पुरुषों में श्रेष्ठ ! जिस पुरुष को यह (मात्रा स्पर्श) पीड़ा नहीं देते हैं जो सुख दुःख में सम है, धीर है वह ही मोक्ष के लिए योग्य है ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अर्थ--असत का भाव नहीं होता है, सत का अभाव नहीं होता है । इन दोनों का अन्त तत्त्वदर्शियों से ही देखा गया है ॥ १६ ॥

अविनाशितु तद्विद्धि येन सर्वमिदंततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अर्थ—इसलिए तू उस को अविनाशि जान जिस ने यह सब कुछ रचा है । इस अव्यय का विनाश करने को न ही कोई समर्थ है ॥ १७ ॥

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अर्थ—जीवात्मा जो नित्य, अविनाशी और अप्रमेय कहा गया है उस के यह देह अन्त वाले हैं, इसलिए हे भारत ! युद्ध को कर ॥१८॥

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—जो इस को मारने वाला जानता है और जो यह मानता है कि यह मारा जाता है वे दोनों नहीं जानते, न यह मारता है न मारा जाता है ॥ १९ ॥

नजायतेम्रियतेवाकदाचिन्नायं भूत्वाभवितावानभूयः ।
अजोनित्यःशाश्वतोऽयं पुराणोनहन्यतेहन्यमानेशरीरे ॥

अर्थ—यह न उत्पन्न होता है न ही कभी मरता है और न ही यह हो कर फिर न होगा। यह अजन्मा, नित्य, सदा रहने वाला और यह पुराना है। शरीर के मरने पर भी यह मारा नहीं जाता है ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जो इसको (जीवात्मा को) नित्य, नाश रहित तथा उत्पत्ति रहित जानता है वह पुरुष कैसे हैं अर्जुन ! किस को मरवाता है और किस को मारता है ? ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथाविहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

अर्थ—जैसे पुरुष पुराने वस्त्रों को छोड़ दूसरे नयों का ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़ कर दूसरे नयों को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

अर्थ—शस्त्र इस को काट नहीं सकते हैं, अग्नि इस को जला नहीं सकती है, जल इस को गला नहीं सकते हैं, वायु इस को सुखा नहीं सकता है ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अर्थ—यह (जीवात्मा) काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, गलाया नहीं जा सकता और न ही सुखाया जा सकता है। यह नित्य, सब पदार्थों में जाने वाला, स्थितिशील, अचल और सनातन है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वेन नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अर्थ—यह अव्यक्त, अचिन्त्य और विकार रहित कहा गया है इसलिए इस प्रकार इस को जान कर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए ॥२५

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अर्थ—और यदि इस को नित्य उत्पन्न होने वाला और नित्य मरने वाला मानो तो भी हे बड़ी २ भुजा वाले अर्जुन ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अर्थ—क्योंकि उत्पन्न हुए की मृत्यु अवश्य है और मरे हुए का जन्म अवश्यमेव होता है इसलिए इस न टलने वाले विषय में तुम्हें शोक न करना चाहिये ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अर्थ—हे भारत ! सब जीवों का आरम्भ अव्यक्त है, मध्य व्यक्त है और ऐसे ही अन्त अव्यक्त है इस में शोक कैसा ?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

अर्थ—कोई इस जीवात्मा को आश्चर्य के समान देखता है, कोई इस को आश्चर्य के समान कहता है और वैसे ही कोई दूसरा इस को

आश्चर्य के समान सुनता है। सुन कर भी इस जीवात्मा को कोई नहीं जानता है ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! यह जीवात्मा सब के देह में सदा अवध्य है अर्थात् कभी मारने में आने वाला नहीं है, इसलिए किसी भी प्राणी का तुम्हें शोक न करना चाहिए ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अर्थ—अपने धर्म को भी देख कर तुम्हें कम्पना नहीं चाहिए, क्योंकि धर्म युद्ध से क्षत्रिय के लिए और कोई श्रेष्ठ नहीं ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! वे क्षत्रिय बड़े पुण्यात्मा हैं जिन को ऐसे युद्ध प्राप्त होते हैं क्योंकि अकस्मात् खुले हुए स्वर्ग के द्वार उन्हें मिलते हैं ॥ ३२

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अर्थ—यदि तू इस धर्म के युद्ध को न करेगा तो तू अपने कर्तव्य और कीर्ति को छोड़ कर पाप को प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्यचाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ—सब मनुष्य सदा तेरे अपयश को कहेंगे और प्रतिष्ठित पुरुष को अपयश मरण से अधिक होता है ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
तेषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—बड़े २ योधा लोग तुम को भय से युद्ध से हटा हुआ मानेंगे। जिन के विचार में तुम बड़े हो उनके विचार में तुम तुच्छता को प्राप्त होगे ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ।
निंदंतस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—तेरे शत्रु बहुत से अवचनीय बचन कहेंगे तेरे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे। इस से बढ़ कर और दुःख क्या ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अर्थ—यदि तू हार गया तो स्वर्ग को प्राप्त करेगा यदि जीत गया तो पृथिवी पर राज्य करेगा इसलिए हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! खड़ा होजा और युद्ध के लिए निश्चय कर ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अर्थ—सुख दुःख को, लाभ हानि को, जय और पराजय को समान समझ कर तू युद्ध के लिए तय्यार हो जा, ऐसे तू पाप का भागी न बनेगा ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्ता यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

अर्थ—हे पार्थ ! यह ज्ञान सांख्य शास्त्र के अनुसार तुझ को बताया गया। अब योग के अनुसार इस (ज्ञान) को सुन, जिस ज्ञान से युक्त हुआ तू कर्मबन्धन से छूट जाएगा ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

अर्थ—इस में न अभिक्रम का नाश है न धर्म के विरुद्ध कुछ है इस धर्म का थोड़ा सा भी बड़े भय से रक्षा करता है ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे कुरु कुल को आनन्दित करने वाले अर्जुन ! इस संसार में दृढ़ आत्मा वाले मनुष्य की एक बुद्धि होती है, अनिश्चयात्मक पुरुषों की बहुत शाखा वाली अनेक प्रकार की बुद्धियां होती हैं ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२ ॥

अर्थ—वेदों के वाद में खुश होते मूर्ख लोग यह पुष्पवाणी को कहते हुए इसके सिवा और कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफल प्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य इच्छा के वश में होकर स्वर्ग चाहते हैं वे जन्म रूपी कर्म का फल देने वाली, जिस में व्यर्थ क्रिया की अधिकता है, विषय भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (ऐसी वाणी की शरण लेते हैं)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो लोग विषय भोग तथा ऐश्वर्य में आसक्त हैं, जिन का मन उस (पुष्पितवाणी) से हरा गया है उन की बुद्धि निश्चयात्मक हो कर समाधि में नहीं चल सकती अर्थात् जिनकी ऐसी बुद्धि है वे योगाभ्यास नहीं कर सकते ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

हे अर्जुन ! वेद तीनों गुणों (सत्त्व, रज, तमो) वाले विषयों का वर्णन करते हैं । तू तीनों गुणों से रहित काम, क्रोध, लाभ आदि द्वन्द्वों को त्याग कर सदा सत्त्वगुण में स्थिर हो । तू अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा और प्राप्त की रक्षा इन से रहित हो । तू आत्मिक बल वाला बन ॥५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

जितना प्रयोजन सब ओर से जल से भरे हुए जलाशय में होता है, उतना ही सब वेदों में विज्ञानी ब्राह्मण का होता है ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

कर्म में ही तेरा अधिकार है फलों में कदापि नहीं । तू कर्म को फल की इच्छा न रख और न तू कर्म न करने में मन लगा ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वंयोगउच्यते ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन ! सङ्ग को त्याग कर, सिद्धि तथा असिद्धि में सम, योग, में स्थिर होकर कर्मों को कर ! (इन दोनों अवस्थाओं में) सम रहने का नाम ही योग है ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! ज्ञान योग से कर्म निश्चय पूर्वक बहुत छोटा है इसलिये योग की शरण में आ । फल की कांक्षा रखने वाले पुरुष ही दीन हैं ४९

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

इस संसार में ज्ञान युक्त पुरुष पुण्य पाप दोनों को छोड़ता है । इस लिये योग के लिये मन लगा कर्मों में कुशलता योग है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ताहि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

बुद्धिमान् पुरुष ज्ञान से युक्त जन्मबन्धन से विमुक्त, कर्म से उत्पन्न हुए फल को त्यागकर कल्याण रूप पद को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी जंजाल को तैर जायगी तब तुम जो कुछ तुमने सुना है,उन सब से जो कुछ तुम सुनोगे,और वैराग्य प्राप्त हो जायगा

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

जब वेदों से घबराई हुई तेरी बुद्धि निश्चल ठहरेगी और समाधि में अचल हो जायेगी तब तुम योग को प्राप्त होगे ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अर्जुन उवाच–अर्जुन बोला हे कृष्ण ! समाधि में स्थिर पुरुष का जिसकी बुद्धि स्थित है क्या लक्षण है ? स्थित बुद्धि वाला पुरुष क्या बोलता है ? कैसे बैठता है ? और कैसे चलता है ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थमनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्री भगवानुवाच—श्री भगवान बोले, हे पार्थ जब मनुष्य मन की सब कामनाओं को त्याग देता है और आत्मा में ही अपने आप आनन्द पाता है, वह मनुष्य स्थित प्रज्ञा वाला कहा जाता है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

जिसका मन दुःखों में व्याकुल नहीं होता और सुखों में भी इच्छा न करे और जो राग, भय तथा क्रोध से रहित है वह पुरुष स्थिर बुद्धि मुनि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो सर्वत्र शुभ और अशुभ को पा कर उस से प्रेम नहीं करता, नहीं प्रसन्न होता है और न ही द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः ।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

और जब यह ज्ञानी अपनी सब इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषय से हटा लेता है, जैसा कि कूर्म अपने सब अंगों को सुकेड़ लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

निराहार जीवात्मा के सब विषय रस को छोड़ कर निवृत्त होजाते हैं । रस भी इसका पर को देखकर अर्थात् परमात्मा को देखकर निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे कुन्ती के पुत्र ! यत्न करते हुए भी ज्ञान पुरुष के मन को प्रमथ न शील इन्द्रियां शीघ्र ही हर लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

उन सब इन्द्रियों को वश में करके जो समाधिस्थ मेरे मन्तव्य को मानने वाला है और जिसकी इन्द्रियां वश में हैं उसकी बुद्धि स्थिरहोती है

ध्यायतो विषयान्पुमः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयों का ध्यान करते हुए मनुष्य की उन में आसक्ति होजाती है आसक्ति से काम उत्पन्न होता है,और काम से क्रोध उत्पन्न होता है॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृति का नाश होता है, स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से वह नष्ट हो जाता है ॥६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

जो राग द्वेष रहित इन्द्रियों से जो इन्द्रियां कि अपने वश में हैं विषयों का सेवन करता है वह आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसा ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

मन की प्रसन्नता होने पर इस ज्ञानी पुरुष की सब दुःखों की हानि हो जाती है । प्रसन्न चित्त वाले मनुष्य की शीघ्र निश्चयरूपेण बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६५ ॥

नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

अयुक्तमन वाले की बुद्धि नहीं होती है, और न ही उसकी भावना होती है, बिना भावना वाले को शान्ति नहीं होती और अशान्त को सुख कहां ॥ ६६ ॥

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥

जो मन विचरती हुई इन्द्रियों के पीछे लगाया जाता है वह इसकी बुद्धि को हर लेता है जैसे वायु जल में नौका को हर लेती है ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

हे बड़ी २ भुजाओं वाले अर्जुन ! इसलिये जिसकी इन्द्रियां विषयों से सब ओर से रुकी हुई हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

जो सब प्राणियों की रात्रि है उस में संयमी जागता है । जिस में सब प्राणी जागते हैं वह मुनि के लिये रात्रि है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे सशांतिमाप्नोतिनकाम कामी ७०

जिस प्रकार समुद्र में जल प्रवेश करते हैं जो समुद्र भरा हुआ अपनी मर्यादा को उल्लङ्घन नहीं करता वैसे ही सब कामनायें जिस पुरुष को प्रवेश करती हैं वह शान्ति को प्राप्त होता है किन्तु कामनाओं के चाहने वाला नहीं ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सब कामनाओं को त्याग कर तृष्णा रहित विचरता है, और जो ममता और अहंकार को त्याग देता है वह शान्ति को प्राप्त होता है॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनांप्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामंतकालेऽपिब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! जो यह ब्रह्म सम्बन्धिनी स्थिति है इसको प्राप्त होकर मनुष्य मोह में नहीं फंसता है और इसमें अन्तकाल में भी स्थित होकर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता सांख्य योगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणास्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरेमां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच-अर्जुन बोला, हे कृष्ण ! यदि तुम कर्म की अपेक्षा बुद्धि को बड़ा मानते हो तो मुझ को, हे केशों के धारण करने वाले कृष्ण ! इस घोर कर्म में क्यों लगाते हो ? ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्ययेन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

मिले हुए वचनों से आप मेरी बुद्धि को मोह में डालते हो इसलिये आप निश्चय करके एक को कहो जिस से मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूं

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्री भगवानुवाच—श्री भगवान् बोले, हे पाप रहित अर्जुन ! इस जगत् में दो प्रकार का मार्ग प्रथम ही मुझ से कहा गया है ! सांख्यों का ज्ञान योग से और योगियों का कर्म योग से ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

कर्मों के आरम्भ न करने से अर्थात् कर्मों के न करने से मनुष्य निष्कर्मता को प्राप्त नहीं होता और न ही सन्यास से सिद्धि को प्राप्त होता है

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

न कोई एक क्षण भर भी बिना कर्म के ठहर सकता है । क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण सब प्राणियों को कर्म अवश्य कराते हैं ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो पुरुष कर्मेन्द्रियों (गुदा, उपस्थ, हाथ पग और वाणी यह पांच कर्मेन्द्रियां हैं) को रोक कर इन्द्रियों के विषयों को अर्थात् भोगादि विषयों को मन से स्मर करता हुआ बैठता है वह मूढ़ात्मा और मिथ्या आचरण करने वाला कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विंद्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग को आरम्भ करता है वह पुरुष आसक्ति रहित सब से विशेष गिना जाता है ॥ ७ ॥

नियतं कुरुकर्मत्वं कर्म ज्यायोह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धेदकर्मणः ॥ ८ ॥

तू कर्म अवश्य कर क्योंकि कर्म न करने से कर्म का करना ही अत्युत्तम है। कर्म न करने से तो तेरी शरीर यात्रा भी सिद्ध न होगी। (शरीर यात्रा शरीर के अंगों आदि का चलना। यदि शरीर को भोजन न दिया जाए तो यह सब अंग शिथिल पड़ जाते हैं) ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञ के लिये जो कर्म किया जाता है, उसके सिवाए यह संसार कर्म-बन्धन वाला है इसलिये तू हे कुन्ती के पुत्र ! कर्मों के संग को छोड़ कर उसके लिये अर्थात् यज्ञ के लिये काम कर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

पहिले सृष्टि के आरम्भ में प्रजा के रचक ईश्वर ने प्रजा को यज्ञ के साथ उत्पन्न करके कहा इस से (यज्ञ से) तुम फैलो ! यह तुम्हारी सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला हो ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः ।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इस यज्ञ से तुम देवताओं को बढ़ाओ और देवता तुम को बढ़ावें। इस प्रकार एक दूसरे की वृद्धि करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञ से प्रसन्न किये हुए देव तुम को इष्ट भोगों को देंगे। उनके दिये हुए भोगों को उनके लिये न देकर अर्थात् यज्ञादि न करने वाला, जो भोगता है वह चोर ही है ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यंते सर्वकिल्विषैः ।
भुंजत ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञ शेष का भोजन करने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं जो लोग केवल अपने लिये पकाते हैं वे पापी पाप का भोजन करते हैं १३

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अन्न से प्राणी होते हैं, अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

कर्म वेद से उत्पन्न हुआ जान, वेद नाश रहित परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं इसलिये सब अच्छे कर्मों में उपयोगी और नित्य होने से यह वेदयज्ञ में प्रतिष्ठित माना गया है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ ! इस संसार में उक्त प्रकार से (परमात्मा के) चलाए हुए चक्र के जो पुरुष अनुकूल नहीं चलता वह पापी जीवन वाला इन्द्रियों के विषय में फंसा हुआ निष्फल जीना है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

जो आत्मा के प्रेम में ही मग्न है और जो पुरुष आत्मा में ही तृप्त है और आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसके लिये कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु काश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

इस संसार में उस पुरुष का जो (अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट तथा तृप्त है) कर्म करने से अथवा न करने से कुछ भी प्रयोजन नहीं है और न ही सब प्राणियों में कोई अर्थ सम्बन्धी प्रयोजन होता है ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोतिपूरूषः ॥ १९ ॥

इसलिये आसक्ति रहित हुए सदा करने योग्य काम को करे क्योंकि आसक्ति रहित काम करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त होता है ॥१९

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनकादि कर्मों से ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं । संसार के कल्याण को सामने रखकर भी तुम्हें काम करना ही चाहिये ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
सयत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

जो जो श्रेष्ठ पुरुष करता है दूसरे लोग भी उसी को करते हैं वह जिसको प्रमाण करता है लोग भी उसी पर चलते हैं ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! तीनों लोकों में मेरे लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है । प्राप्त होने योग्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो प्राप्त न हो फिर भी मैं कर्म करने में प्रवृत्त हूं ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः ।
ममवर्त्मानुवर्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

हे पृथा के पुत्र अर्जुन ! जो कदाचित् मैं आलस्य छोड़ कर कर्म में न वर्तूं तो सब मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुकरण करेंगे ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

यदि मैं कर्म न करूं तो यह लोग नष्ट हो जाव और वर्णसंकर धर्म का कर्त्ता मैं होऊं और इन लोगों का मैं ही नाश करने वाला ॥होऊं २४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे भारत ! जिस प्रकार मूर्ख कर्मों में लगे हुए अर्थात् स्वार्थ के लिये काम करते हैं उसी प्रकार विद्वान् पुरुष कर्मों में असक्त अर्थात् स्वार्थ रहित देश का कल्याण चाहने वाला काम करे ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणिविद्वानयुक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

बुद्धिमान् कर्म करने में लिप्त अज्ञानी पुरुषों की बुद्धि भेद उत्पन्न न करे, परन्तु सावधान होकर आचरण करता हुआ उनको सब कर्मों में लगावें

प्रकृतेः क्रियमाणानिगुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्माकर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

प्रकृति के गुणों से सब काम किये जाते हैं। अहंकार से अविद्याग्रस्त आत्मा है जिसका वह पुरुष, मैं कर्त्ता हूं ऐसा मानता है ॥ २७ ॥

तत्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तंते इतिमत्वा नसज्जते ॥ २८ ॥

हे बड़ी २ भुजाओं वाले अर्जुन ! गुण और कर्म के विभाग के तत्त्व को जानता है वह गुण गुणों में वर्त्तते हैं ऐसा जान कर वह कर्मों में नहीं फंसता ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

प्रकृति के गुणों से मोह में पड़े हुए लोग गुणकर्मों में लिपटे रहते हैं उन अल्पज्ञ मन्दमति वाले पुरुषों को ज्ञानी पुरुष चलायमान न करे २९

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धचस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

सब कामों को मीतरी प्रेम से मेरे निमित्त कर । निष्काम ममता को छोड़ कर और शोक रहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठंति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयंतो मुच्यंते तेऽपिकर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो पुरुष मेरे इस मत का नित्य अनुष्ठान करते हैं वे श्रद्धा वाले प्रसन्न चित्त हैं । वे भी कर्मों से छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठंति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

जो मेरे मत का अनुष्ठान नहीं करते किन्तु उसकी निन्दा करते हैं उन अज्ञानियों को जो सर्व विषयक ज्ञान में मिमूढ़ हैं नष्ट जानों ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

ज्ञानी पुरुष भी अपने इस स्वभाव के सदृश ही चेष्टा करता है । सब प्राणी अपने स्वभाव को जाते हैं । निग्रह क्या करेगा ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग द्वेष स्थिर होते हैं । उन दोनों के वश में न आवे क्योंकि वे दोनों ही इसके (जीव के) शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अच्छे प्रकार अनुष्ठान किया हुआ अन्य के धर्म से अपना धर्म गुण रहित भी श्रेष्ठ है । अपने धर्म में मृत्यु भी श्रेष्ठ है परया धर्म भय वाला होता है ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच–अर्जुन बोला, हे वृष्णी कुल में उत्पन्न हुए कृष्ण ! यह पुरुष इच्छा न करता हुआ भी बलात्कार से लगाया हुआ किस से प्रेरित किया हुआ पाप को करता है ? ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

श्री भगवानुवाच–श्री भगवान् बोले ! यह काम है, यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न होते हैं । यह बड़ा खाने वाला है । यह बड़ा पापी है, इस संसार में इसको (काम को) शत्रु समझ ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे धूम से अग्नि आच्छादित हो जाती है, और जैसे मल से दर्पण ढक जाता है और जैसे जेर से गर्भ ढका रहता है वैसे ही यह (ज्ञान) उस से (काम से) ढका रहता है ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! यह ज्ञानियों का नित्य वैरी है । इस काम से जिसकी पूर्त्ति कभी नहीं होती और क्रोध से ज्ञान ढका हुआ है ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इन्द्रियां मन और बुद्धि इस का (काम और क्रोध का) निवास स्थान कहा गया है । इनको तीनों को ज्ञान को ढक कर यह जीवात्मा को मोहित कर लेता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! इसलिये तू पहिले इन्द्रियों को वश में करके इस पापी (काम और क्रोध) को नाश कर जो ज्ञान और विज्ञान के नाश करने वाला है ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

स्थूल शरीर की अपेक्षा इन्द्रियां सूक्ष्म हैं, इन्द्रियों से सूक्ष्म मन है, और मन से सूक्ष्म बुद्धि है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं और जो बुद्धि से भी सूक्ष्म है वही आत्मा है ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

हे बड़ी २ भुजाओं वाले अर्जुन ! इस प्रकार इसे बुद्धि से भी सूक्ष्म जान कर अपने आत्मा से आत्मा को ठहराकर इस काम रूपी शत्रु का नाश करदे जिसको वश में करना बड़ा कठिन है ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता कर्म योगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

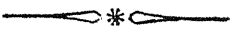

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वतेयोगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राहमनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

श्री भगवान् बोले–मैंने इस सनातन योग को विवस्वान् के लिये कहा विवस्वान् ने मनु को बताया और मनु ने इक्ष्वाकु के लिये कथन किया ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तामिमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महतायोगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राज ऋषियों ने जाना । वह योग इस संसार में चिर काल से नष्ट होगया है ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्ययोगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखाचेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

आज वही यह पुरातन योग मुझ से तेरे लिये कहा गया है क्योंकि तू मेरा भक्त और मित्र है इसीलिये मैंने यह उत्तम रहस्य तुम को कहा है ३

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुन बोला–आपका जन्म अब हुआ और विवस्वान् का जन्म प्राचीन है। मैं इसको कैसे जानूं कि तुमने ही आरम्भ में इस योग को कह

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्री भगवान् बोले–हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म व्यतीत हो चुके हैं । हे परन्तप ! मैं उन सब को जानता हूं किन्तु तुम नहीं जानते

अजोऽपि सन्नव्ययात्माभूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अज भी हूं । मेरी आत्मा अटल है । मैं अर्थात् मेरी आत्मा मुक्ति को प्राप्त होने से अन्य भूतों का स्वामी है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होचुका है । मैं अपने स्वभाव को आश्रय करके अपने ज्ञान से उत्पन्न होता हूं ६

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

जब २ धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब मैं शरीर धारण करता हूं ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधुओं की रक्षा के लिये और दुष्टों के विनाश के लिये, धर्म के स्थापन के लिये मैं प्रत्येक युग में जन्म लेता हूं ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वत ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरे जो दिव्य जन्म और कर्म हैं, उनके तत्त्व को जो पुरुष जानता है वह शरीर को छोड़ कर पुनर्जन्म में नहीं आता, मुझको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

बहुत लोग रोग, भय और क्रोध से रहित मुझ में लौ लगाकर मेरा आश्रय लेते हैं, वे ज्ञान के तप से पवित्र हो कर मेरे भाव तक पहुँच जाते हैं ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार जो मनुष्य मुझ को प्राप्त होते हैं उनका वैसे ही मैं स्वागत करता हूं । क्योंकि सब ओर से मनुष्य मेरे मार्ग का अनुकरण करते हैं ॥ ११ ॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इस संसार में कर्मों की सिद्धि को चाहते हुए देवताओं का यज्ञ करते हैं क्योंकि मनुष्य लोक में कर्मों से उत्पन्न हुई सिद्धि शीघ्र होती है

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुण कर्म के विभाग से चारों वर्ण मुझ से बनाए गये हैं । उसका (गुण कर्म के विभाग का) भी कर्त्ता मुझ को जानो वैसे मैं अटल और काम न करने वाला हूं ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिंपंति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

कर्म मुझ को स्पर्श नहीं करते हैं और न मेरी कर्म के फल में इच्छा है । इस प्रकार जो मुझ को जानता है वह कर्मों से नहीं बान्धा जाता ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

ऐसा जानकर पहिले मोक्ष चाहने वालों ने भी कर्म किया इसलिये तू भी कर्म कर क्योंकि पूर्वजों से पूर्व ऐसा ही किया गया है ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है ? इस विषय में बड़े २ बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो गए हैं । इसलिये मैं तेरे लिये कर्म कहता हूं जिसको जान कर तू अशुभ कर्मों से छूट जायेगा ॥ १६ ॥

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्म (करने योग्य कर्म) को भी जानना चाहिये और विकर्म (शास्त्र के विरुद्ध जो कर्म है) को भी जानना चाहिये तथा अकर्म को भी जानना चाहिये क्योंकि कर्मों का ज्ञान बड़ा गूढ़ है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो पुरुष कर्मों में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखे वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है । वही योगी है वही सब काम करने वाला है १८

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥

जिस पुरुष के आरम्भ किये हुए सब काम कामना रूपी संकल्प से वर्जित हैं और जिस के कर्म ज्ञान रूपी अग्नि से दग्ध हो गए हैं उसी को विद्वान् लोग पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

कर्म के फल में आसक्ति को त्याग कर जो आश्रय रहित नित्य तृप्त है वह पुरुष कर्म में प्रवृत्त हुआ २ भी कुछ नहीं करता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ २१ ॥

जिस पुरुष की तृष्णा दूर हो गई है, जिस ने चित्त और आत्मा को वशीभूत किया हुआ हैं जिसने स्नेह के सब बन्धन छोड़ दिए हैं ऐसी पुरुष केवल शरीर से कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता है २१

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो कुछ मिल जाए उस से सन्तुष्ट, शीतोष्ण, काम, क्रोध, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित ईर्षा से रहित, कार्य की सिद्धि तथा असिद्धि में समान ऐसा पुरुष काम करके भी बन्धन में नहीं फंसता है ॥ २२ ॥

गतसंगस्यमुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

ज्ञान में चित्त जिसका अवस्थित है, जो मुक्त है जिस का किसी पदार्थ के साथ संग नहीं और जो परमात्मा की आज्ञानुकूल काम करता है ऐसे पुरुष का कर्म नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

ब्रह्म स्रुवा है, ब्रह्म हवि है, ब्रह्म अग्नि में ब्रह्म से ही यह हवन किया गया है इस प्रकार ब्रह्म कर्म समाधि से ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

कोई योगी जन देव यज्ञ को उपासते हैं कोई (योगी जन) ब्रह्म रूप अग्नि में अपने आत्मरूप यज्ञ द्वारा जीवात्मा को हवन कर देते हैं २५

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

कई लोग श्रोत्रादि इन्द्रियों को संयम रूप अग्नि में हवन करते हैं और कई लोग शब्दादि विषयों को इन्द्रिय रूपी अग्नि में हवन कर देते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणिचापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

कोई योगी-जन सब इन्द्रियों के कर्मों को और प्राण आदि के सब कर्मों को आत्मसंयम रूप योग अग्नि में जो ज्ञान से प्रकाशित है होम कर देते हैं । २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्ययज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कई लोग द्रव्य का यज्ञ करते हैं, कई तप का यज्ञ करते हैं और वैसे ही कई योग का यज्ञ करते हैं । कई पक्के व्रत वाले यति लोग वेदाध्ययन तथा ज्ञान का यज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

और कई लोग अपान वायु में प्राण को हवन कर देते हैं (भीतर से वायु बाहिर निकालना अपान और बाहिर से वायु भीतर ले जाना प्राण कहलाता है) और प्राण वायु में अपान का होम कर देते हैं । प्राण अपान की गतियों को रोक कर कई प्राणायाम में तत्पर हो जाते हैं २९

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

कई लोग परिमित भोजन करने वाले प्राणों को प्राणों में हवन कर देते हैं । यह सब यज्ञ के जानने वाले हैं और इसी से यज्ञ करने से ही इनके पापों का नाश हुआ है ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुओं में श्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञ का शेष जो अमृत है उसको खाने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । यज्ञ न करने वाले का यह लोक ठीक नहीं होता फिर परलोक कहां ? ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

ऐसे और कई प्रकार के यज्ञ वेदों में विस्तार पूर्वक कहे गये हैं । उन सब को कर्म से उत्पन्न हुए ही जानो । ऐसा जान कर तू दुःखों से छूट जायेगा ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परन्तप ! द्रव्य रूपी यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि हे पार्थ ! सब कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

नमस्कारों से अर्थात् शिष्य भाव से, प्रश्नों से, गुरु सेवा से उस ज्ञान का उपदेश ज्ञानी लोग जो तत्त्वदर्शी हैं तेरे लिये करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

हे पाण्डव ! जिसको जान कर पुनः ऐसे मोह को प्राप्त न होंगे और जिस से सब प्राणियों को पूर्ण रूप से अपनी आत्मा में और मुझ में भी देखेगा ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पापी हो तब भी सब पाप को ज्ञान रूप नौका से तर जाओगे ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठों को भस्मीभूत कर देती है, वैसे ही सब कामों को ज्ञानरूप अग्नि भस्मीभूत कर देती है ॥ ३७ ॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥ ३८ ॥

इस संसार में ज्ञान के सदृश कोई पवित्र पदार्थ नहीं है उस ज्ञान को चिर काल से योग में सिद्ध हुआ २ पुरुष अपने आत्मा में प्राप्त कर लेता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

श्रद्धा वाला पुरुष ज्ञान को लभता है । जो ज्ञान की प्राप्ति में ही लगा हुआ हो और इन्द्रियों को वशीभूत करने वाला ज्ञान को प्राप्त करके शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

कई लोग परिमित भोजन करने वाले प्राणों को प्राणों में हवन कर देते हैं । यह सब यज्ञ के जानने वाले हैं और इसी से यज्ञ करने से ही इनके पापों का नाश हुआ है ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुओं में श्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञ का शेष जो अमृत है उसको खाने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । यज्ञ न करने वाले का यह लोक ठीक नहीं होता फिर परलोक कहां ? ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

ऐसे और कई प्रकार के यज्ञ वेदों में विस्तार पूर्वक कहे गये हैं । उन सब को कर्म से उत्पन्न हुए ही जानो । ऐसा ज्ञान कर तू दुःखों से छूट जायेगा ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परन्तप ! द्रव्य रूपी यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि हे पार्थ ! सब कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

नमस्कारों से अर्थात् शिष्य भाव से, प्रश्नों से, गुरु सेवा से उस ज्ञान का उपदेश ज्ञानी लोग जो तत्त्वदर्शी हैं तेरे लिये करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

हे पाण्डव ! जिसको जान कर पुनः ऐसे मोह को प्राप्त न होंगे और जिस से सब प्राणियों को पूर्ण रूप से अपनी आत्मा में और मुझ में भी देखेगा ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पापी हो तब भी सब पाप को ज्ञान रूप नौका से तर जाओगे ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठों को भस्मीभूत कर देती है, वैसे ही सब कामों को ज्ञानरूप अग्नि भस्मीभूत कर देती है ॥ ३७ ॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥ ३८ ॥

इस संसार में ज्ञान के सदृश कोई पवित्र पदार्थ नहीं है उस ज्ञान को चिर काल से योग में सिद्ध हुआ २ पुरुष अपने आत्मा में प्राप्त कर लेता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

श्रद्धा वाला पुरुष ज्ञान को लभता है । जो ज्ञान की प्राप्ति में ही लगा हुआ हो और इन्द्रियों को वशीभूत करने वाला ज्ञान को प्राप्त करके शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अज्ञानी पुरुष, श्रद्धा से हीन और जिस के आत्मा में संशय रहता है यह तीनों नाश को प्राप्त होते हैं । सन्देही पुरुष का न यह लोक और न ही परलोक ठीक होता है और न ही उसको सुख होता है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

हे धनंजय ! योगाभ्यास से दूर कर दिया है कर्मों का बन्धन जिस ने और जिसने ज्ञान से संशयों को काट दिया है ऐसे आत्मा को वश में करने वाले पुरुष को कर्म नहीं बांधते ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

हे भारत ! इसलिये अज्ञान से उत्पन्न हुए अपने हृदय में स्थित हुए इस सन्देह को ज्ञान की खड्ग से छेदन करके कर्मयोग को आश्रय करके उठो ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान विभाग योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ॥

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोला–हे कृष्ण ! तुम कर्मों के त्याग की प्रशंसा करते हो और फिर कर्मों के करने को भी कहते हो । इन दोनों में से जो एक श्रेष्ठ है वह मेरे लिये निश्चय कर कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच ॥

संन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्री भगवान् बोले–कर्मों का त्याग और कर्मों का करना दोनों ही कल्याणकारी है पर उन दोनों में से कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मों का करना उत्तम है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो पुरुष न द्वेष करता है, न इच्छा करता है, वह नित्य संन्यासी समझना चाहिये । हे बड़ी २ भुजाओं वाले अर्जुन ! रागद्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित है जो पुरुष वह सुख पूर्वक बन्धन से छूट जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सांख्य और योग शास्त्र के ज्ञान और कर्म काण्ड के विषयों को जो पृथक् २ कहते हैं वे बालक हैं पण्डित नहीं । एक का भी ठीक २ आश्रय लिया हुआ दोनों के फल को पाता है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

जो स्थान सांख्य वालों से पाया जाता है वह योगियों से भी पाया जाता है। सांख्य और योग को जो एक देखता है वह ही ठीक देखता है

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! योग के विना संन्यास को प्राप्त करना कठिन है । योग से युक्त मुनि ब्रह्म को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

योग से युक्त, शुद्ध आत्मा वाला, जिसने आत्मा को जीत लिया है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, और जो अपनी आत्मा को सब की आत्मा जैसी मानता है, वह पुरुष काम करता हुआ भी उसके बंधन में नहीं फंसता ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तोमन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥

तत्त्ववेता जो योगी है वह देखता हुआ, सुनता हुआ स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, जाता हुआ, श्वास लेता हुआ और सोता हुआ, 'मैं कुछ नहीं करता हूं' ऐसा माने ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

बोलता हुआ, किसी वस्तु को छोड़ता हुआ, किसी को ग्रहण करता हुआ, नेत्रों को खोलता हुआ, तथा मीचता हुआ इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त होती हैं ऐसा धारण करता हुआ (मैं कुछ नहीं करता हूं यह माने) ॥ ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो पुरुष कर्मों के संग छोड़ कर परमात्मा के अर्पण कर्म करता है वह पुरुष जल में कमल के पत्ते के समान पाप से नहीं लिपटता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

योगी लोग आत्मा की शुद्धि के लिये शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी संग को छोड़ कर कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

योगी जन कर्म के फल को छोड़ कर मुक्ति को प्राप्त होता है और अयुक्त पुरुष अर्थात् जो योगी नहीं है काम के करने से फल में लगा हुआ बन्ध जाता है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

जितेन्द्रिय जीवात्मा न कुछ करता हुआ और न कराता हुआ सब कामों को मन से त्याग करके नवद्वार वाले शरीर रूपी नगर में सुखपूर्वक बैठता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

जगत् का स्वामी परमात्मा कर्मों को नहीं रचता है और न उसके कर्त्तापन को रचता है और न कर्म के फल के संयोग को रचता है और न कर्म के फल के संयोग को रचता है किन्तु (यह जीवात्मा कर्मों में) स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञाने वृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

परमात्मा किसी के पाप को और न ही पुण्य को लेता है। अज्ञान से ज्ञान ढका रहता है, उस से लोग मोहित हो जाते हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

जिनके आत्मा का अज्ञान ज्ञान से नष्ट हो गया है उनका ज्ञान सूर्य्य के समान (हृदय में) परमात्मा को प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

उस परमात्मा में ही जिनकी बुद्धि है उसी में ही आत्मा है जिनका, वही जिनका आश्रय हैं, उसी में जिनकी तत्परता है ऐसे पुरुष जिनके पाप ज्ञान से दूर हो गए हैं ऐसी मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं जहां से फिर लौट कर नहीं आते ॥ १७ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गविहस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डितः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चण्डाल में जो समदर्शी है वह पण्डित है ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

जिनका मन समता में स्थिर है उन्होंने इस जन्म में ही संसार को जीत लिया है । जिस कारण ब्रह्म निर्दोष एक रस है इसलिए वे ब्रह्म में स्थिर हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

प्रिय वस्तु को प्राप्त करके प्रसन्न न हो और न ही अप्रिय को प्राप्त करके दुःखी हो, बुद्धि में स्थिर रहे और मोह को प्राप्त न हो ऐसा ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म में स्थिर होता है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

बाहिर के स्पर्श आदि विषयों में जिस का आत्मा फंसा हुआ नहीं है वह अन्तःकरण में जिस सुख को प्राप्त करता है वह ब्रह्मयोग से युक्त है आत्मा जिस का, न नाश होने वाले सुख को भोगता है ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौंतेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! जो स्पर्शादि विषयों से उत्पन्न हुए भोग हैं वे ही दुःख के कारण हैं । वे आदि और अन्त वाले हैं । विद्वान् पुरुष इन में नहीं फंसता है ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो इसी जन्म में शरीर छोड़ने से पहिले काम क्रोध से उत्पन्न हुए वेग उठाने को समर्थ होता है वही योगी और वही सुखी पुरुष है ॥२३॥

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो मनुष्य भीतरी आत्मा में सुख वाला, जो भीतरी आत्मा में रमण करने वाला और वैसे ही प्रकाशित है ज्योति जिस के अन्दर, ऐसा योगी ब्रह्म में स्थित मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः ॥ २५ ॥

जो सब प्राणियों का हित करने में तत्पर हैं, जिन्होंने अपना आत्मा वश में कर लिया है, जिन्हों के सब संशय कट गए हैं और जिन्हों के पाप नष्ट हो गए हैं ऐसे ऋषि मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

काम क्रोध से विमुक्त यतियों के जिन्होंने अपने मन को वश में कर लिया है उन के चारों ओर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मुक्ति है ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाहिर के स्पर्शादि विषयों को बाहिर करके और भौंहों में नेत्र

करके, नासिका में चलने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जिस ने वश में कर लिया है, मोक्ष में प्रवीण, इच्छा, भय और क्रोध जिस के छूट गए हैं जो ऐसा मुनि है वह सदा मुक्त है ॥ २७, २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

यज्ञ और तप का भोक्ता करने वाला, सर्वलोक का प्रभु, सर्व प्राणियों का मित्र, मुझ को ऐसा जान कर पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीता संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

श्रीभगवान् उवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—जो मनुष्य कर्म के फल की आशा से रहित कर्त्तव्य कर्म को करता है, वही संन्यासी है और वही योगी है । जो अग्नि को स्पर्श न करे और कर्म न करे वह संन्यासी और योगी नहीं ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

हे पाण्डव ! जिस को (बुद्धिमान् पुरुष) संन्यास कहते हैं उस को तू योग जान, क्योंकि वह योगी कभी नहीं होता है जिस ने सङ्कल्पों को नहीं त्यागा है ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते ॥ ३ ॥

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मुनि का कर्म कारण कहा गया है और जो योग में आरूढ़ हो गया है उस का शम कारण कहा जाता है ॥ ३ ॥

यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जब पुरुष इन्द्रियों के विषयों में और कर्मों में लिप्त नहीं होता है, सर्व सङ्कल्पों को त्यागने वाला योगारूढ़ अर्थात् योगी कहा जाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अपनी आत्मा को अपने द्वारा उद्धरे : अपनी आत्मा को नीचे न ले जावे क्योंकि (मनुष्य) आप ही अपने आत्मा का बन्धु तथा आप ही उस का शत्रु है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

उस पुरुष का आत्मा अपने आप का बन्धु है जिसने अपने आप से आत्मा को जीत लिया है और जिस ने आत्मा को वश में नहीं किया उसका आत्मा ही शत्रुपन में शत्रु के समान वर्तता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

जिस ने अपने आत्मा को जीत लिया है जो शान्तचित्त वाला है जिस की समाधि में परमात्मा रहता है जो शीतोष्ण, सुख दुःख तथा मानापमान में एक सा है, जिस का आत्मा ज्ञान और विज्ञान से तृप्त है जो कूटस्थ है, जिस ने इन्द्रियों को जीत लिया है जो मट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण को एक समान देखता है वह योगी योग से युक्त कहाता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओं में, साधुओं तथा पापियों में जो एक दृष्टि रखता है वह सब से उत्तम (योगी) है ॥९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

जिस ने अपने चित्त तथा आत्मा को जीत लिया है जो विषय वासना और तृष्णा से रहित है वह योगी एकान्त में ठहर कर सदा अपने आत्मा को योग में लगावे ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

पवित्र देश में अपना स्थिर आसन जो न बहुत ऊंचा हो और न बहुत नीचा हो, सब से नीचे कुशा उसके ऊपर मृग का चर्म और फिर उस पर वस्त्र ऐसा आसन लगा करके और उस पर बैठ करके मन को एकाग्र करके चित्त तथा इन्द्रियों की क्रिया को वशीभूत करके आत्मा की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करे ॥ ११ ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीतमत्परः ॥ १४ ॥

शरीर, शिर और ग्रीवा को स्थिर और अचल सीधा धारण करता हुआ अपने नासिका के अग्रभाग को देख करके और किसी दिशा को न देखता हुआ शान्त आत्मा वाला, ब्रह्मचारियों के व्रत में स्थिर मन को वश में करके, मुझ में चित्त है जिसका और जिसका मैं ही परमस्थान हूँ ऐसा योगी योगों से युक्त होता है ॥ १३ ॥ १४ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

जिस ने अपने मन को रोक लिया है ऐसा योगी अपने आत्मा को सदा योग में जोड़ता हुआ परमपद वाली शान्ति को प्राप्त होता है जो मेरे में स्थित है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! अधिक खाने वाले तथा सर्वथा न खाने वाले पुरुष को योग नहीं होता है । न ही अधिक सोने वाले और न ही अधिक जागने वाले का योग होता है ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७ ॥

जिस का आहार और विहार युक्त है, कर्मों में जिसकी युक्त चेष्टा है, सोने और जागने में जो युक्त है ऐसे पुरुष का योग दुःखों के नाश करने वाला होता है ॥ १७ ॥

यदाविनियतंचित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निः स्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्तइत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

जब रोका हुआ चित्त परमात्मा में ही ठहरता है और जब सब कामनाओं तथा इच्छाओं से रहित होता है तब वह योग से युक्त कहा जाता है

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक हिलता नहीं है इसी प्रकार की उपमा दी गई है उस योगी को जिसने अपने चित्त को जीत लिया है और जिसने अपना आत्मा योग में लगा लिया है ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यं लब्धा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विकल्पते ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

सनिश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

योग का सेवन करने से जहां रोका हुआ चित्त विषयों से विरक्त होता है और जहां अपने आत्मा से परमात्मा को देखता हुआ परमात्मा में सन्तुष्ट होता है, जिस अवस्था में अत्यन्त सुख को जो बुद्धि से ही ग्रहण किया जा सकता है इन्द्रियों से नहीं, (योगी) जानता है और जिस में स्थिर हुआ २ यह योगी वास्तविक सुख से चलायमान नहीं

होता, जिस (योग) को प्राप्त करके उस से अधिक अन्य कोई लाभ को नहीं मानता और जिस में स्थित हुआ २ बड़े से बड़े दुःख से भी चलायमान नहीं होता है, उसको जिस से दुःख के संयोग का वियोग है योग नाम वाला जानो । ऐसे योग को निश्चय पूर्वक चित्त में उदासीनता न रखकर करना चाहिए ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

संकल्प के प्रभावों से उत्पन्न हुई सब कामनाओं को सम्पूर्णतया छोड़कर मन से ही सब इन्द्रियों को सब ओर से वश में करके, धैर्य से ग्रहण की हुई बुद्धि से धीरे २ वैराग्य को उत्पन्न करे । मन को आत्मा में स्थिर करके और कुछ न सोचे ॥ २४ ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

स्थिर न रहने वाला तथा चञ्चल मन जिधर २ को चलता है उधर २ से इसको रोक करके आत्मा में वशीभूत करे ॥ २६ ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

शान्तचित्त वाले पाप से रहित इस योगी को जिसका रजोगुण शान्त हो गया है ब्रह्म के गुणों को धारण करने से उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥

युञ्जन्नेव सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

इस प्रकार से योगी जिस के पाप नष्ट हो गए हैं अपने आत्मा को समाधि में लगाता हुआ परमात्मा के संस्पर्श को अत्यन्त सुख को सुख-पूर्वक भोगता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

योग से युक्त है आत्मा जिस का, सर्वत्र समदर्शी ऐसा योगी सब प्राणियों में स्थित परमात्मा को और परमात्मा में स्थित सब प्राणियों को देखता है ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो पुरुष मुझ को सर्वत्र देखता है और सब को मेरे में देखता है उस की दृष्टि में मैं कभी नहीं भूलता और न मैं उसे कभी भूलता हूं ॥३०

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जो योगी एकता को धारण करके मुझे सब भूतों में स्थित को भजता है वह योगी सर्वथा रहता हुआ भी मुझ में बर्त्तता है ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष सब स्थानों में अपने आत्मा के समान सुख वा दुःख को सम देखता है वह परम योगी माना गया है ॥ ३२ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

योऽयं योगस्त्वयाप्रोक्तो साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वान्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! जो यह योग तुम ने समता से कहा गया है इस की मैं स्थिर स्थिति को चञ्चलता के कारण नहीं देखता हूं ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

हे कृष्ण ! निश्चय करके मन बड़ा चञ्चल है । यह शरीर और इन्द्रियों को क्षुब्ध करने वाला है । यह बड़ा बलवान् है । यह बड़ा दृढ़ है । इस मन को रोकना मैं वायु के समान बड़ा दुष्कर मानता हूं ॥ ३४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

श्री भगवान् बोले—हे महाबाहो ! इसमें सन्देह नहीं कि मन चञ्चल होने से कठिनता से रोका जाता है तो भी हे कुन्ती के पुत्र ! अभ्यास और वैराग्य से वशीभूत किया जा सकता है ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

जिस ने अपने मन को वश में नहीं किया उसको योग की प्राप्ति कठिन है यह मेरी सम्मति है, और जिस ने यत्न से अपने मन को वश में कर लिया है उस को उपाय से प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! जो मनुष्य संयमी नहीं परन्तु श्रद्धा से भरा हुआ और योग से जिस का मन चलायमान है योग की सिद्धि को प्राप्त न होकर किस दशा को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे बड़ी २ भुजाओं वाले कृष्ण ! क्या वह दोनों से (कर्मयोग और ज्ञानयोग) गिरा हुआ परमात्मा के मार्ग में मोहित अर्थात भूला हुआ और अप्रतिष्ठित बड़े मेघ से कटे हुए छोटे मेघ के टुकड़े के समान नष्ट नहीं हो जाता ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण ! यह मुझ को संशय है । आप ही इस को सर्वथा काटने के योग्य हो ; आप से भिन्न इस संशय का काटने वाला निश्चय पूर्वक कोई नहीं मिल सकता ॥ ३९ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

हे अर्जुन ! इस जन्म में उस पुरुष का (योग से च्युत हुए २ का) नाश नहीं होता है और न ही दूसरे जन्म में, इसलिये हे वत्स ! शुभ कर्म करने वाला कोई भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

पुण्य कर्म करने वालों के लोकों को प्राप्त होकर बहुत वर्षों तक वहां वास करके योग भ्रष्ट पुरुष पवित्र आचरण वाले और श्रीमानों के गृह में जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा बुद्धिमान् योगियों के कुल में वह (योगभ्रष्ट पुरुष) होता है। निश्चय करके इस संसार में ऐसा जन्म अति दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

हे अर्जुन ! वहां (जन्म पाकर) उस बुद्धि संयोग को जो पूर्व देह में लाभ किया गया था। लाभ करता है उसके पश्चात् पुनः मुक्ति के योग की सम्यक् सिद्धि के लिये वह पुरुष यत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

पूर्वजन्म के अभ्यास से वह अवश्यमेव योग की ओर चला जाता है। योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म का उलङ्घन कर जाता है ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

यत्न से यत्न करता हुआ शुद्ध निष्पाप योगी अनेक जन्म से सिद्धि को प्राप्त हुआ २ उसके अनन्तर परमगति को प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभिश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

योगी तपस्वियों से बड़ा है । ज्ञानियों से भी बड़ा माना गया है । कर्मियों से भी बड़ा है इसलिये हे अर्जुन ! तु योगी बन ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

सब योगियों में से भी जो मुझ में अपने आत्मा को लगाकर भक्ति से मेरी उपासना करता है उसको मैं सब से अच्छा योगी समझता हूं ४७

इति श्री मद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्र० आत्मसंयमयोगो
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—हे पार्थ ! मुझ में आसक्त मन वाला योग में जुड़ा हुआ मेरे आश्रय वाला सर्वथा संशय से रहित मुझ को यथा तू जानेगा वह सुन ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तेरे लिये ज्ञान और विज्ञान को सम्पूर्णतया कहूंगा जिसको जान करके इस संसार में फिर और जानने योग्य नहीं है ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु काश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

सहस्रों मनुष्यों में से कोई सिद्धि के लिये यत्न करता है । यत्न करने वाले सिद्धि पुरुषों में से भी कोई ठीक मुझ को जानता है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार यह मेरी भिन्न २ आठ प्रकार की प्रकृति है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! यह अपर प्रकृति है इस से अन्य जो मेरी परप्रकृति जीवरूप है उसको तू जान जिस से इस जगत् को धारण किया जाता है

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

यह सब भूतों की योनी है ऐसा तू जान और मैं इस सारे जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण हूं ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

हे धनंजय ! मेरे से बड़ा और कोई नहीं है, सूत्र में मणियों के समूह के समान यह सब मुझ में प्रोत है ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

हे कुन्ती के पुत्र ! जलों में मैं रस हूं । चन्द्रमा और सूर्य में मैं प्रभा हूं । सब वेदों मे प्रणव हूं । आकाश में शब्द और मनुष्यों में पौरुष हूं ॥ ८ ॥

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मिविभावसौ ।
जीवनंसर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथिवी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज मैं हूं । सब भूतों में जीवन और तपस्वियों में तप मैं हूं ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

हे पार्थ ! सब भूतों को सनातन बीज मुझ को जानो । बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूं । तेजस्वियों का मैं तेज हूं ॥ १० ॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ ! बलवानों का बल मैं हूं, जो बल काम और राग से वर्जित है । सब भूतों में धर्म से जो विरोध नहीं रखता वह काम मैं हूं ११

ये चैव सात्विका भावा राजसस्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

जो सात्विक, राजस और तामस भाव हैं, उनको तू मेरे से जान, मैं उन में नहीं वे मेरे में हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्व मिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

इन तीनों गुणमय भावों से यह सब जगत् मोहित है । इन से परे विकार रहित मुझ को नहीं जानता है ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥ १४ ॥

यह गुणमयी मेरी माया निश्चय करके दुःख से तरी जा सकती है । जो मुझ को प्राप्त होते हैं वे इस माया को तर जाते हैं ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५॥

मुझ को दुष्कर्मी वाले, मूढ़, नीच पुरुष, माया से जिन का ज्ञान नष्ट हो गया है, आसुरी भाव वाले ऐसे पुरुष मुझ को प्राप्त नहीं होते हैं

चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! चार प्रकार के अच्छे काम करने वाले लोग मुझ को भेजते हैं । हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! प्रथम दुःख से पीड़ित पुरुष, दूसरे जिज्ञासु तीसरे किसी अर्थ की सिद्धि के लिये भक्ति करने वाले और और चौथे ज्ञानी ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च ममप्रियः ॥ १७ ॥

उन में से ज्ञानी नित्य युक्त, एक भक्ति वाला विशेष है । मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूं और वह मुझ को प्रिय है ॥ १७ ॥

उदारः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये सब ही श्रेष्ठ हैं परन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही माना गया है । वह युक्तात्मा अनुत्तम गति को मुझ में स्थित है ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्व मिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझ को प्राप्त होता है । यह सब वासुदेव है ऐसा जानकर वह महात्मा दुर्लभ है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः ।
ते ते नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

उन २ कामनाओं से जिन का ज्ञान नष्ट होगया है वे लोग और देवताओं को प्राप्त होते हैं । अपनी २ प्रकृति के अनुसार उस २ नियम को आश्रय लेते हुए दूसरे देवताओं का भजते हैं ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

जो २ भक्त श्रद्धा से जिस २ प्रकृति के) तनु को पूजने की इच्छा करता है उस २ पुरुष की अचल श्रद्धा को मैं उसको (प्रकृति के तनु) धारण करा देता हूं ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यांति मद्भक्तायांति मामपि ॥ २३ ॥

उन अल्प बुद्धि वाले भक्तों का वह फल अन्त वाला होता है। देव पूजा वाले देवों को प्राप्त होते हैं मेरे भक्त मुझ को ही प्राप्त होते हैं

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

बुद्धिहीन पुरुष मुझ को अव्यक्त मेरे अनुत्तम विकार रहित परं भाव को न जानते हुए व्यक्त मानते हैं ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

योगमाया से ढका हुआ मैं सब प्रकाश नहीं हूँ। अजन्मा, विकार रहित मुझ को यह मूढ़ लोक नहीं जानता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! मैं सब प्राणियों को जो हो चुके हैं, जो हैं और जो होंगे जानता हूं पर मुझे कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि समोहं सर्गे यांति परंतप ॥ २७ ॥

हे भारत ! इस संसार में सब प्राणी राग द्वेष से उत्पन्न हुए जोड़े के मोह से मोह को प्राप्त होते हैं, हे परंतप ! ॥ २७ ॥

येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

जिन पुण्यकर्म वाले मनुष्यों का पाप नष्ट हो गया है वह दृढ़व्रती वाले द्वन्द्व मोह से विमुक्त मुझ को भजते हैं ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुःकृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

जो लोग मेरा आश्रय लेकर बुढ़ापे और मृत्यु से छूटने के लिये यत्न करते हैं वे उस ब्रह्म को और आत्मा के ज्ञान को और सब कर्मों को जानते हैं ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपिच मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

जो लोग मुझ को अधिभूत अधिदैव और अधियज्ञ जानते हैं वे युक्तचित्त वाले मरण काल में भी मुझ को जानते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।

अष्टमोऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? वह आत्मा का ज्ञान क्या है ? और वह कर्म क्या है ? अधिभूत और अधिदैव किस को कहा गया है ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभि ॥ २ ॥

हे कृष्ण ! इस देह में अधियज्ञ क्या है और कैसे जानना चाहिये ? वश में कर लिया है आत्मा अपना जिन्हों ने, ऐसे पुरुषों से मरणकाल में आप कैसे जाने जाते हैं ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्री भगवान् बोले—अध्यात्म को स्वभाव कहा गया है । प्राणियों की उत्पत्ति वृद्धि करने वाली जो शक्ति है उसका नाम कर्म है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! विनाश स्वभाव वाला अधिभूत है और पुरुष अधिदैवत है और इस देह में निश्चय पूर्वक अधियज्ञ मैं हूं ॥४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो मनुष्य अन्तकाल में मुझ को ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ कर प्रयाण करता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इस में सन्देह नहीं ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यत्यजन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

हे कुन्ती के पुत्र ! मनुष्य अन्तकाल में जिस २ भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है वह उसी भाव को पहुंचता है क्योंकि वह उसमें रमा हुआ है ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये प्रत्येक समय तू मेरा स्मरण कर और युद्ध कर । मेरे में अर्पण कर दी है मन और बुद्धि ऐसा तू निस्सन्देह मुझ को ही प्राप्त होगा

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नाऽन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥

हे पार्थ ! योगाभ्यास से युक्त, इधर उधर न जाने वाले चित्त से चिन्तन करता हुआ दिव्य परम पुरुष जो परमात्मा है उसको प्राप्त होता है

कविं पुराणमनुशासितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्यधातारमचिंत्यरूपमादित्यवर्णंतमसः परस्तात् ॥९॥

वह (ब्रह्म) सर्वज्ञ है । वह सनातन है । वह सब का अनुशासन करने वाला है । वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है । वह सब की रचा करने वाला है । उसका स्वरूप अचिन्त्य है । वह अन्धेरे से परे सूर्य के समान स्वत प्रकाश है ऐसा जो ब्रह्म है उसको स्मरण करे ॥ ९ ॥

प्रयाणकालेमनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेनचैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तंपरंपुरुषमुपैतिदिव्यम्

(जो पुरुष) मृत्यु के समय अचलमन से, भक्ति से युक्त होकर और योगबल से, दोनों भौंहों के मध्य में भले प्रकार प्राण को रोककरके उसका ध्यान करता है वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है १०

यदक्षरं वेदविदो विदंति विशंति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्तेपदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ११

जिस पद को वेद के जानने वाले अक्षर कहते हैं, जिनको विरक्त तथा यत्न शील पुरुष प्राप्त होते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य को चरते हैं वह पद तेरे लिये संक्षेप से कहता हूं ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

(शरीर के) सब द्वारों को रोक कर, मन को हृदय में रोक कर अपने प्राण को मस्तिष्क में चढ़ा कर योग धारण में स्थिर हो ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

'ओ३म्' यह एक अक्षर ब्रह्म है इस का जाप करता हुआ, मुझ को स्मरण करता हुआ जो पुरुष अपने देह को छोड़ता हुआ प्रयाण करता है वह परम गति को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

अन्य वस्तु में चित्त न लगानेवाला जो सदा मुझ को प्रति दिन स्मरण करता है हे पार्थ ! उस सदा नियुक्त योगी को मैं सुलभ हूं ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

मुझ को पहुंच कर दुःख का घर विनाशी जो पुनर्जन्म है उस को महात्मा लोग जो परम सिद्धि को प्राप्त हैं नहीं आते हैं ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्म लोक से लेकर यह सब लोक पुनर्जन्म वाले हैं। मुझ को पहुंच कर हे कुन्ती के पुत्र ! पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यंतमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

सहस्र युग पर्यन्त जो ब्रह्म का दिन है जो लोग उसको जानते हैं और सहस्र युग की रात्रि को जानते हैं वे लोग दिन और रात्रि के जानने वाले हैं ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

दिन निकलने पर अव्यक्त प्रकृति से सब व्यक्त कार्य उत्पन्न होते हैं और रात्रि आने पर वहां ही अव्यक्त प्रकृति में लय हो जाते हैं ॥ १८

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पार्थ ! वह यह भूत समुदाय हो २ कर रात्रि आने पर लय हो जाते हैं और दिन निकलने पर फिर उत्पन्न होते हैं ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोव्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

इस लिये अव्यक्तभाव प्रकृति से परे एक और अव्यक्तभाव (सूक्ष्म परमात्मा) है । वह सनातन है, वह जो सब प्राणियों के नाश होने पर नाश को प्राप्त नहीं होता है ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

वह अव्यक्त अक्षर ऐसा कहा गया है (विद्वान् लोग) उसको परम गति कहते हैं जिसको प्राप्त करके लौटते नहीं हैं । वह मेरा परम स्थान है ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यांतः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! जिसके भीतर सब प्राणी स्थित हैं और जिसने इस समग्र संसार को फैला रक्खा है वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस काल में प्राण त्यागने के अनन्तर योगीजन मुक्ति को तथा संसार को प्राप्त होते हैं उस काल को मैं कहूंगा ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल, छः मास उत्तरायण में मरनेवाले ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

धूआं, रात्रि, कृष्णपक्ष और छः मास दक्षिणायन में मरनेवाला योगी चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त करके पुनः २ लौटता है ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

इस जगत् की निश्चय करके शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष दो पुरानी गतियां मानी गई हैं । एक से चलनेवाला मुक्ति को प्राप्त होता है और दूसरी से पुनः लौट आता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पार्थ ! इन मार्गों को जानता हुआ योगी कदापि मोहित नहीं होता । इस लिये हे अर्जुन ! सब कालों में योगयुक्त हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येतितत्सर्वमिदंविदित्वायोगीपरंस्थानमुपैतिचाद्यम् २८

योगी इसको (ब्रह्म को) जान कर वेदों में, यज्ञों में तपों में और दानों में जो पुण्यफल कथन किया गया है उस सब फल को उलंघन कर जाता है और वह सब के आदि रूप परम स्थान को प्राप्त होता है ॥२८॥

इति श्री मद्भगवद्गीता योगशास्त्रेऽक्षर ब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ।

नवमोऽध्यायः ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यन सूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—१

तुम निन्दा से रहित के लिये इस अत्यन्त गुप्त ज्ञान विज्ञान सहित को कहूंगा, जिसको जान करके तुम अशुभ कर्मों से छूट जाओगे ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह (ज्ञान) राजविद्या, राजगुह्य, पवित्र तथा उत्तम है । यह प्रत्यक्ष से जाना जाता है । धर्म पूर्वक और सुख से किया जाता है । यह विकार रहित है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानः पुरुषा धर्म्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप ! इस धर्म की श्रद्धा से हीन पुरुष मुझ को न प्राप्त करके मृत्युरूप संसार के मार्ग में लौटते हैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्व भूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

मुझ अव्यक्त मूर्ति से यह समग्र जगत् विस्तृत किया गया है ! सब प्राणी मुझ में स्थित हैं परन्तु मैं उन में स्थित नहीं हूं ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

न भूत मेरे में स्थित हैं । मेरे ऐश्वर योग को तू देख मैं भूतों के धारनेवाला हूं और भूतों स्थित नहीं हूं । मेरा आत्मा भूतों का जीवन है ॥५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगोमहान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे नित्य सर्वत्र चलनेवाली वायु आकाश में स्थिर है वैसे ही सब प्राणी मेरे में स्थित हैं ऐसा तू जान ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिंयांति मामिकम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे कुन्ती के पुत्र ! कल्प के क्षय में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि में उन सब भूतों को मैं रचता हूं ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूत ग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृति को आश्रय करके मैं बारम्बार इस सारे भूत समुदाय को अवश्य प्रकृति के वश से उत्पन्न करता हूं ॥ ८ ॥

न च मांतानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय ।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे धनञ्जय ! वे कर्म मुझ को नहीं बांधते हैं । मैं उदासीन के सदृश उन कर्मों में असक्त हूं ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे कुन्ती के पुत्र ! मेरी अध्यक्षता से प्रकृति चराचर को उत्पन्न करती है । इस हेतु से जगत् चलता है ॥ १० ॥

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानंतो ममभूत महेश्वरम् ॥ ११ ॥

मूढ़ लोग मुझ को मनुष्य का शरीर धारण किया हुआ समझ कर मेरे परम भाव को न जानते हुए जो सब प्राणियों से बड़ा है निरादर करते हैं ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघ ज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

वे (मूढ़ लोग) आशा से शून्य, कर्मों से शून्य और विचारहीन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति को आश्रय किये हुए हैं ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

हे पार्थ ! दैवी प्रकृति को आश्रय करने वाले अर्थात् देवताओं के स्वभाव वाले महात्मा लोग अनन्य मन से मुझको भूतों का मुख्य तथा विकार रहित जान कर भेजते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्त्तयंतो मां यतंतश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

सदा मेरी कीर्ति को करते हुए, यत्न करते हुए दृढ़व्रत वाले नमस्कार करते हुए सदा युक्त मन वाले मुझको भक्ति से उपासते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥ १५ ॥

दूसरे लोग ज्ञानयज्ञ से पूजन करते हुए मुझको एक रूप से और पृथक् रूप से बहुत प्रकार से सब ओर मुख वाले को उपासते हैं ॥ १५ ॥

अहंक्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

मैं क्रतु (संकल्प) हूं, मैं यज्ञ हूं, मैं स्वधा हूं, मैं औषध हूं, मैं मन्त्र हूं, मैं घृत हूं, मैं अग्नि हूं और मैं हवन हूं ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

मैं इस जगत् का माता पिता धाता और पितामह हूं । जानने योग्य पवित्र ओंकार मैं हूं । ऋक्, साम और यजु मैं हूं ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण सुहृद् मैं हूं । उत्पत्ति तथा नाश का स्थान, कोष, बीज तथा नाश रहित मैं हूं ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

मैं तपाता हूं । मैं वर्षा को ग्रहण करता और छोड़ता हूं। हे अर्जुन! अमृत, मृत्यु, सत् और असत् मैं हूं ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
तेपुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोक मश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

तीन विद्या के जानने वाले सोम के पीने वाले, पाप जिनके दूर हो गए हैं मेरी यज्ञ से पूजा करके स्वर्गगति की प्रार्थना करते हैं । वे पुण्य सुरेन्द्र लोक को पाकर प्रकाशमय स्वर्ग में देव भोगों को भोगते हैं ॥२०॥

तेतं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्य-लोक में प्रवेश करते हैं, इस प्रकार त्रयी धर्मों को प्राप्त हुए २ भोगों की कामना वाले पुरुष आवागमन को प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानांयोगक्षेम वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जो लोग अन्य का चिन्तन न करते हुए मुझको उपासते हैं उन नित्य जुड़ी हुओं के योगक्षेम को मैं उठाता हूं ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेवकौंतेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

जो अन्य देवताओं के भक्त भी श्रद्धा से युक्त पूजते हैं वे भी हे कुन्ती के पुत्र ! मुझको ही अविधि पूर्वक पूजते हैं ॥ २३ ॥

अहंहि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानंति तत्वेनातश्च्यवंति ते ॥ २४ ॥

मैं सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूं परन्तु वे ठीक २ मुझको नहीं जानते हैं और इसलिये गिरते हैं ॥ २४ ॥

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः ।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपिमाम् ॥ २५ ॥

देवताव्रत वाले मनुष्य देवताओं को प्राप्त होते हैं । पितरों के व्रत वाले पितरों को प्राप्त होते हैं । भूतों के पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं । मेरी पूजा करने वाले मुझको भी प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं योमे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामिप्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

पत्र, पुष्प, फल, जल को जो पुरुष मेरे लिये भक्तिसे देता है मैं शुद्ध चित्त वाले के भक्ति से भेंट किये हुए को भोगता हूं ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासियज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! जो तू करता है, जो खाता है, जो होमता है, जो देता है और जो तू तप करता है वह तू मेरे अर्पण कर ॥ २७ ॥

शुभाऽशुभ फलैरेव मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
सन्यासयोगयुक्तात्माविमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

शुभ तथा अशुभ फल वाले कर्म बन्धनों से तू छूट जायेगा । संन्यास योग से युक्त चित्त वाला मुक्त हुआ मुझको प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

समोऽहंसर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

सब भूतों में मैं सम हूं, न मेरा द्वेष्य है न प्रिय । जो मुझको भक्ति से पूजते हैं वे मुझ में और मैं उनमें हूं ॥ २९ ॥

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः ॥ ३० ॥

यदि अत्यन्त दुराचारी अनन्य-भक्त भी मुझको भजते हैं । वे साधु ही समझने चाहिये क्योंकि वह सम्यक् निश्चय वाला है ॥ ३० ॥

क्षिप्रंभवति धर्मात्मा शश्वच्छांति निगच्छति ।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा की शान्ति को प्राप्त होता है । तू निश्चय पूर्वक जान हे कुन्ती के पुत्र ! मेरा भक्त नाश को प्राप्त नहीं होता है ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांतिपरां गतिम् ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! मुझको आश्रय करके जो पाप योनियों वाले भी हों स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी हों वे परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम् ॥ ३३ ॥

फिर क्या पवित्र ब्राह्मण, भक्त तथा राजर्षि ? अनित्य सुख रहित इस लोक को प्राप्त करके मुझको भज ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामे वैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

मेरे में मन वाला हो, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा करने वाला बन, मुझ को नमस्कार कर । इस प्रकार आत्मा को जोड़कर मेरे में परायण हुआ मुझको प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता राजविद्या राजगुह्य योगोनाम नवमोऽध्याय ।

दशमोऽध्यायः ।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

भूय एव महा बाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच ।

हे महाबाहो ! फिर भी तू मेरे परम वचन को सुन जो कि मैं तुझे प्यार किये हुये को हित की कामना से कहता हूं ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हिदेवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

न देवताओं के समूह और नहीं महर्षि मेरी उत्पत्ति को जानते हैं क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियों का सर्व प्रकार से आदि हूं ॥ २ ॥

योमामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो मुझे अजन्मा, अनादि और लोकों का महा ईश्वर जानता है वह मनुष्यों में अज्ञान से रहित हुआ २ सब पापों से छूट जाता है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि, ज्ञान, संमोह, क्षमा, सत्य, दम, (इन्द्रियों को रोकना), शम (मन की शान्ति) सुख, दुःख, जन्म, मरण, भय और अभय, अहिंसा,

समता, सन्तोष, तप, यश, और अयश, भूतों के नाना प्रकार के भाव मुझ से ही होते हैं ॥ ४, ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मनसा जाता येषां लोक इमाःप्रजाः ॥ ६ ॥

सात महर्षि (भृगु आदि) पहले चार (अग्नि, वायु, आदित्य अङ्गिरा) और मनु मेरे भाव वाले मन से अर्थात् अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न हुए जिनकी यह लोक प्रजाएं हैं ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च ममयो वेत्ति तत्वतः ।
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

मेरी इस विभूति और योग को जो पुरुष ठीक २ जानता है वह अचल योग से युक्त होता है इस में सन्देह नहीं ॥७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं सब का उत्पन्न करने वाला हूं, मेरे से सब प्रवृत्त होते हैं । यह जान कर बुद्धिमान् पुरुष भाव से युक्त मुझ को भजते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्तामद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमंति च ॥९॥

मुझ में चित्त वाले, मेरे निमित्त जीने वाले, परस्पर जितलाते हुए और मुझ को सदा कथन करते हुए प्रसन्न होते हैं और (परमात्मा की भक्ति में) रमण करते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥१०॥

उन सदा युक्त मन वालों को और प्रीति पूर्वक भजने वालों को मैं उस बुद्धियोग को देता हूं जिस से वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥१० ॥

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उन के अनुग्रह के लिये अज्ञान से उत्पन्न तम को मैं उन के आत्मा में रहता हुआ ज्ञान के दीप के प्रकाश से नाश करता हूं ।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन बोला ।

तू परब्रह्म परमधाम और परम पवित्र है । सारे ऋषि, देव ऋषि नारद, असित, देवल और व्यास तुझे निरन्तर दिव्य पुरुष, आदि देव, अजन्मा और सर्व व्यापक कहते हैं और स्वयमेव तू मुझे ऐसा कहता है।

सर्वमेतदृतं मन्येयन्मां वदसि केशव ।
नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! जो तू कहता है मैं सत्य मानता हूं और हे भगवन् न देवता और न दानव तेरी व्यक्ति को (स्वरूप) जानते हैं ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे पुरुषों में उत्तम ! हे भूतों को उत्पन्न करने वाले ! हे भूतों के ईश ! हे देवों के देव ! हे जगत् पिता ! तू आप ही अपने आत्मा से आत्मा को जानता है ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्यतिष्ठसि ॥१६॥

तुम्हारी जो दिव्य विभूतियां हैं उनको तुम सम्पूर्ण रीति से कहने योग्य हो जिन विभूतियों से इन लोकों को व्याप्त करके तुम स्थित हो ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगिन् ! मैं तुम को सदा चिन्तन करता हुआ कैसे जानूं । हे भगवन् ! किन २ भावों में तू मुझ से चिन्तनीय है ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन ! अपने योग तथा विभूति को विस्तार पूर्वक फिर कहो क्योंकि अमृतरूपी वचनों को सुनते हुये मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥१९॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छा मैं प्रधानता से तेरे लिये निश्चय करके अपनी दिव्य विभूतियों को कहूंगा । मेरे (विभूतियों के) विस्तार का अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥२०॥

हे अर्जुन ! मैं परमात्मा सब भूतों के हृदय में स्थित हूं । मैं ही आदि, मध्य और मैं ही सब भूतों का अन्त हूं ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यों में मैं विष्णु ज्योतियों में मैं किरणों वाला सूर्य, वायुओं में मैं मारीचि और नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूं ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदों में मैं सामवेद हूं, देवताओं में मैं वासव हूं, इन्द्रियों में मैं मन हूं, भूतों में मैं चेतना हूं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रों में शंकर हूं, यक्ष राक्षसों में मैं धन का स्वामी हूं, आठ वसुओं में मैं अग्नि हूं, पर्वतों में मैं मेरु हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

हे पार्थ ? पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझे जान । सेनापतियों में मैं स्कन्द हूं, जलाशयों में से मैं सागर हूं ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षियों में भृगु मैं हूं, वाणियों में एक अक्षर (ओ३म्) मैं हूं, यज्ञों में जप यज्ञ मैं हूं, स्थिति वालों में हिमालय मैं हूं ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

सर्व वृक्षों में मैं पीपल हूं, देवऋषियों में नारद मैं हूं, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूं ॥२६॥

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेंद्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

घोड़ों में मुझे उच्चैश्रवस जान जो अमृत से उत्पन्न हुआ है, हाथियों में एरावत और मनुष्यों में नराधिप मुझे जान ॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

शस्त्रों में मैं वज्र हूं, धेनुओं में मैं कामधुक् हूं, उत्पन्न करने वाला काम मैं हूं और सर्पों में मैं वासुकी हूं ॥२८॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि, यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

नागों में मैं अनन्त हूं, जलचरों में मैं वरुण हूं, पितरों में अर्यमा मैं हूं, वश करने वालों में यम मैं हूं ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूं, गणना करने वालों में काल मैं हूं, मृगादि पशुओं में मैं सिंह हूं, पक्षियों में मैं गरुड़ हूं ॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पवित्र करने वालों में मैं वायु हूं, शस्त्र धारण करने वालों में राम हूं, मच्छलियों में मकर मैं हूं, बहने वाली नदियों में गंगा मैं हूं ॥३१॥

सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि अन्त और मध्य मैं हूं, विद्याओं में अध्यात्म विद्या और बोलने वालों में वाद मैं हूं ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षरों में अकार मैं हूं, समासों में द्वंद्व समास मैं हूं, क्षय रहित काल मैं हूं, धारणकर्त्ता सब ओर मुख वाला मैं हूं ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहं उद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिःश्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

सब को हरने वाली मृत्यु मैं हूं, होने वालों में उद्भव हूं, स्त्रियों में कीर्ति, शोभा और वाणी मैं हूं, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूं ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

सामों में बृहत्साम, वेदों में गायत्री मैं हूं, मासों में माघ मैं हूं, ऋतुओं में फूलों की खान (वसन्त) मैं हूं ॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वंसत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

छल करने वालों में द्यूत (कपटी पांसा) मैं हूं, तेजस्वियों का तेज मैं हूं, मैं जय हूं, मैं व्यवसाय हूं, सत्त्व वालों का सत्त्व मैं हूं ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहंव्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णियों में वासुदेव हूं, पाण्डवों में धनञ्जय हूं, मुनियों में भी व्यास हूं, कवियों में शुक्र कवि मैं हूं ॥३७॥

दंडोदमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।

मौनंचैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दमन करने वालों का दण्ड हूं, जीतने की इच्छा वालों की नीति हूं, गुह्यों में मौन मैं हूं, ज्ञान वालों का ज्ञान मैं हूं ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजंतदहमर्जुन ।

नतदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन ! जो भी सब भूतों का बीज है वह मैं हूं क्योंकि वह कोई चर और अचर भूत नहीं जो मेरे बिना हो ॥३९॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यनां विभूतीनांपरंतप ।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरोमया ॥ ४० ॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, परन्तु यह विभूति का विस्तार तो नाममात्र मैं ने तुम्हें कहा है ॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

जो २ शोभा वाला, कान्ति वाला तथा विभूति वाला सत्त्व है वह २ मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जानो ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किंज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनस्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

हे अर्जुन ! इस बहुत जानने से तुम्हें क्या ? इस समस्त जगत् में एक अंशरूप से धारण करके मैं स्थित हूं ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ।

एकादशोऽध्याय ।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेनमोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—मेरे अनुग्रह के लिये परमगुह्य अध्यात्म विद्या वाला जो वचन तुम ने कहा है उससे मेरा मोह निवृत्त हो गया है ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष महात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

हे कमल के पत्ते के सदृश नेत्रों वाले ! तुम से भूतों की उत्पत्ति तथा नाश दोनों विस्तार पूर्वक मैंने सुने और विनाश रहित महात्म्य को भी सुना ॥२॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानंपरमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! ऐसा जैसा तू अपने आप को कहता है हे पुरुषोत्तम ! मैं तेरे ईश्वरीय रूप को देखना चाहता हूं ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! यदि तुम मानते हो कि वह स्वरूप मुझ से देखा जा सकता है तो हे योगियों के ईश्वर ! तुम मुझे अविनाशी आत्मा को दिखाओ ॥४॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों अथवा सहस्रों रूप देख जो दिव्य नाना प्रकार के नाना रंगों वाले और नाना आकृतियों वाले हैं ॥५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भारत ! आदित्यों को, वसुओं को, रुद्रों को, अश्वियों को, मरुतों को तथा बहुत से आश्चर्य रूपों को देख जो पहिले कभी नहीं देखे ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
ममदेहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।

हे निद्रा के ईश अर्जुन ! यहां मेरे देह में आज चराचर सहित सारे जगत् को एक स्थान में स्थित देख, और जो तू और देखना चाहता है॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अपने चक्षु से निश्चय करके तुम मुझे नहीं देख सकते इसलिये मैं तुमको दिव्य चक्षु देता हूं और मेरे ईश्वरीय योग को देख ॥८॥

॥ संजयउवाच ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरोहरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोला—ऐसा कहकर हे राजन् ! फिर महायोगेश्वर हरि ने अर्जुन को परम ईश्वरीय रूप को दिखाया ॥९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

जिसमें अनेक मुख और नेत्र, अनेक अद्भुत दर्शन, अनेक दिव्य भूषण और अनेक शस्त्र उठाये हुए हैं ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

जिसमें दिव्य मालाएं, दिव्य वस्त्रों का धारण, दिव्य गन्धों का अनुलेपन, जो सर्व प्रकार आश्चर्यमय प्रकाश वाला अनन्त और सब ओर मुख वाला ॥११॥

दिविसूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाःसदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

आकाश में यदि सहस्र सूर्य्य की प्रभा एक वार ही उदय हो तो उस महात्मा की वह प्रभा सदृश हो ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरेपांडवस्तदा ॥ १३ ॥

तब अर्जुन ने वहां एक देश में स्थित अनेक प्रकार से विभक्त हुए समस्त जगत् को देवों के देव के शरीर में देखा ॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसादेवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

फिर वह अर्जुन आश्चर्य वाला हर्षित रोमों वाला शिर से देव को प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले ॥१४॥

अर्जुनउवाच ।

पश्यामि देवांस्तवदेव देहे, सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशंकमलासनस्थ, मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोला—हे देव ! तुम्हारे देह में देवताओं को तथा सर्वभूत विशेष के समूहों को, कमल के आसन पर स्थित स्वामी ब्रह्मा को, सब ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देखता हूं ॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्र, पश्यामि त्वांसर्वतोऽनंतरूपम् ।
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिम, पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥

अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्रों वाला सब ओर से अनन्त रूपों वाला तुझे देखता हूं । हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! मैं न तेरा अन्त न मध्य और न आदि देखता हूँ ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च, तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंतादू दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥

सब ओर से प्रकाश वाला तुम्हें तेज के समूह को मुकुट, गदा और चक्र वाला जलती हुई अग्नि और सूर्य्य के समान प्रकाशित देखता हूँ और जो रूप सब ओर से कठिनता से देखा जा सकता है ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्यविश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनस्त्वंपुरुषोमतोमे ॥ १८ ॥

तुम अक्षर परम जानने योग्य हो, तुम इस विश्व के परम भण्डार हो, तुम अव्यय सदा से धर्म के रक्षक हो और तुम सनातन पुरुष मुझ से माने गए हो ॥१८॥

अनादिमध्यांतमनंतवीर्यं, मनन्तबाहुंशशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामित्वं दीप्तहुताशवक्त्रं, स्वतेजसाविश्वमिदंतपंतम् ॥ १९ ॥

तुम आदि, मध्य और अन्त से रहित हो, तुम अनन्त बल वाले, अनन्त भुजा वाले और चन्द्र सूर्य्य नेत्र वाले हो, तुम जलती हुई अग्नि के समान मुख वाले अपने तेज से इस विश्व को तपा रहे हो, ऐसा मैं तुम्हें देखता हूँ ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि, व्याप्तंत्वयैकेन दिशश्चसर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

द्यौ और पृथिवी का जो मध्य है और जो सब दिशायें हैं वे सब एक तुम से व्यापक हो रही हैं । हे महात्मन् ! तुम्हारा यह अद्भुत और उग्र रूप को देखकर तीनों लोक कांप रहे हैं ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति, केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणंति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः, स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः

यह देवताओं के समूह तुझ में प्रवेश करते हैं और कई डरे हुए पुरुष हाथ जोड़कर तुम्हारी स्तुति करते हैं । कल्याण हो ऐसा कहकर महर्षि सिद्धों का समूह बड़ी २ स्तुतियों से तुम्हारी स्तुति करते हैं ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या, विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा, वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, अश्वि, मरुत, उष्मपा, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समूह सब आश्चर्य होकर तुम्हें देखते हैं ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं, महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं, दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! तेरा जो बड़ा रूप बहुत मुख नेत्रों वाला, बहुत भुजा, उरु और पादों वाला, बहुत उदरों वाला और जो बहुत दाढ़ों से क्रूर है ऐसे तेरे रूप को देखकर लोग कांप रहे हैं और मैं भी कांप रहा हूँ ॥२३॥

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं, व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वाहि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा, धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥

आकाश को छुए हुए प्रकाश वाले अनेक रंगों वाले, फैलाये हुए मुख वाले, चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले तुझे देख करके हे विष्णो ! मेरा मन डर गया है और मैं धैर्य्य और शान्ति को नहीं लाभ करता हूँ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि, दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

कालाग्नि के समान और दाढ़ों से विकराल तेरे मुखों को देख करके दिशाओं को नहीं जानता हूँ और नहीं शान्ति को पाता हूँ इसलिये हे देवों के ईश्वर ! और हे जगत् के निवास ! मुझ पर प्रसन्न हो ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः, सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ, सहस्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति, दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु, संदृश्यते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

यह धृतराष्ट्र के पुत्र सभी सब राजाओं के समूहों के साथ ही भीष्म, द्रोण और वह कर्ण और हमारे भी मुख्य २ योधाओं के साथ ही शीघ्रता करते हुए तुम्हारे मुखों में प्रवेश करते हैं जो मुख दाढ़ों से विकराल तथा भयानक हैं । कई दान्तों के भीतर में लगे हुए शिर से चकनाचूर दीखते हैं ॥२६-२७॥

यथा नदीनां बहवोऽबुवेगाः, समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोक वीरा, विशंतिवक्त्राण्यभिविज्वलंति ॥२८॥

जैसे नदियों के बहुत जलों के प्रवाह समुद्र ही की ओर बहते हैं

वैसे यह मनुष्यलोक के वीर प्रकाश वाले तेरे मुखों में सब ओर से प्रवेश करते हैं ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा, विशंति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशंति लोकास्तवापिवक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे पतंग जलती हुई अग्नि में अपने नाश के लिये बड़े वेग से प्रवेश करते हैं वैसे ही लोग भी नाश के लिये बड़े वेग से तेरे मुखों में प्रवेश करते हैं ॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंता ल्लोकान्समाग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रम्, भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥३०

अपने जलते हुए मुखों से सब ओर से समग्र लोकों को ग्रास करता हुआ खा रहा है और तेज से पूर्ण करके समग्र जगत् को हे विष्णो ! तुम्हारा उग्र प्रकाश तपा रहा है ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपोनमोऽस्तुते देव वर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यम्, न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

मुझे कहो आप उग्र रूप वाले कौन हो, तुम्हें नमस्कार हो, हे देवों में श्रेष्ठ ! तुम प्रसन्न हो, मैं तुम्हारे आदि को जानना चाहता हूं । मैं तेरी प्रवृत्त को नहीं जानता हूँ ॥ ३१ ॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे, येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

श्री भगवान् बोले—मैं बढ़ा हुआ लोगों के नाश के लिये काल हूँ । मैं इस संसार में लोगों के नाश करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ । सब योधा जो शत्रुओं की सेना में खड़े हैं तेरे बिना भी नहीं रहेंगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व, जित्वाशत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इस लिये तू उठ शत्रुओं को जीत कर यश को लभ और बड़े राज्य को भोग । हे बायें हाथ से शस्त्र चलाने वाले ! मुझ से यह पहिले ही मारे गये हैं तू केवल इन का निमित्त बन ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं जयद्रथं च, कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा, युध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान्

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य वीर योद्धाओं को मुझ से मारे हुओं को तू मार, मत डर और युद्ध कर अपने शत्रुओं को तू रण में जीतेगा ॥ ३४ ॥

॥ संजय उवाच ॥

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य, कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णम्, सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

संजय बोला—कृष्ण का यह वचन सुन कर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़ कर नमस्कार करके फिर डरता २ प्रणाम करके (नम्रता पूर्वक) गद २ कृष्ण को बोला ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या, जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यतेच ।
रक्षांसि भीतानि दिशोद्रवंति, सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥

हे कृष्ण ! यह ठीक है कि तुम्हारे कीर्तन से यह जगत् प्रसन्न होता है और प्रेम को प्राप्त होता है, राक्षस डरे हुए दिशाओं को दौड़ते हैं और सब सिद्धों के समूह तुम्हें नमस्कार करते हैं ॥ ३६ ॥

कस्माच्चते न नमेरन् महात्मन्, गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनंत देवेश जगन्निवास, त्वमक्षरंसदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन क्योंकर वे तुम्हें नमस्कार न करें ? तुम बड़े हो और ब्रह्मा के आदि कर्त्ता हो । हे अनन्त ! हे देवताओं के स्वामिन् ! हे जगत् निवास ! तुम अक्षर हो, तुम सत् और असत् हो, और वह जो पर है वह भी तुम्हीं हो ॥ ३७ ॥

त्वमादि देवः पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनंतरूपम्॥३८॥

तुम आदि देव हो, तुम प्रचीन पुरुष हो, तुम विश्व के परम निधान हो, तुम जानने वाले हो, जानने योग्य हो और परमधाम हो और तुम से हे अनन्तरूप ! यह सारा विश्व रचा गया है ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः, प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः, पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

तुम वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, सूर्य और प्रपिता मह हो । तुम्हें सहस्रवार नमस्ते हो और फिर तुम्हें बारंबार नमस्ते हो । ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते, नमोऽस्तु ते सर्वतएवसर्व ।
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसिसर्वः ॥४०॥

तुम्हें सामने से पीछे से नमस्कार हो, हे सर्वरूप तुम्हें सब ओर से नमस्कार हो, तुम अनन्त वीर्य और पराक्रम वाले हो, तुम में व्यापक हो इस लिये तुम सब कुछ हो ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं, हे कृष्ण, हे यादव, हेसखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं, मया प्रमादात्प्रणयेनवापि ॥ ४१ ॥
यच्चाव हासार्थमसत्कृतोऽसि, विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युततत्समक्षं, तत्क्षामयेत्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

मित्र जान कर हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! तेरी महिमा को न जानते हुए मुझ से प्रमाद से अथवा प्रेम से भी दबाव से जो कुछ कहा गया है, और जो खेलने, सोने, बैठने, भोजन में, अकेले अथवा मित्रों के समक्ष उपहासार्थ में ने जो तेरा निरादर किया है उसकी हे अच्युत ! मैं तुम अप्रमेय से (अपरमित उदारता वाले से) क्षमा करवाता हूँ ॥ ४१,४२ ॥

पितासिलोकस्यचराचरस्य, त्वमस्यपूज्यश्चगुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो, लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव:

हे अनुपम प्रभाव वाले ! इस चर और अचर का तू पिता है, तू इस का पूज्य है, तू इसका बड़ा गुरू है । तीनों लोकों में अधिक तो क्या ! तेरे समान भी अन्य कोई नहीं ॥ ४३ ।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं, प्रसादये त्वामहमीश मीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियःप्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४

इस लिये प्रणाम करके शरीर को झुका करके तुझ स्तुति योग्य स्वामी को प्रसन्न करता हूँ. जैसे पिता पुत्र की, मित्र मित्र की, पति पत्नी की भूल को सहारता है ऐसे हे देव ! तुम भी मेरी भूल को सहारने योग्य हो ।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा, भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं, प्रसीद, देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

तेरे रूप को देख करके जो पहिले कभी नहीं देखा मैं प्रसन्न हूँ । मेरा मन भय से काँप रहा है, हे देव ! मुझे वही रूप दिखाओ ! हे देवताओं के ईश ! हे जगत् निवास आप मेरे पर प्रसन्न हों ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि, त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन, सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

मुकुट वाला गदा वाला, हाथ में चक्र वाला मैं तुम्हें वैसा ही देखना

चाहता हूँ । हे सहस्र भुजाओं वाले ! हे विश्वमूर्ते ! वही चतुर्भुज रूप धारण कर ॥ ४६ ॥

भगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं, रूपं परं दर्शितमात्म योगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्त माद्यं, यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

श्री भगवान् बोले हे अर्जुन ! मैं ने प्रसन्न होकर अपने योग से तुम्हें यह रूप दिखाया है जो तेजोमय विश्व, अनन्त और आद्य है और जो तेरे बिना किसी अन्य से पूर्व नहीं देखा गया ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्नदानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके, द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

हे कुरुओं में वीर ! न वेद यज्ञ को अध्ययन से, न दानों से, न क्रियाओं से, न उग्र तपों से ऐसा रूप इस मनुष्य लोक में तेरे बिना दिखाने को समर्थ हूँ ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावोदृष्ट्वा रूपं घोरमीदङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं, तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मेरे ऐसे घोर रूप को देख कर तू डर मत और मोहित मत हो; भय से रहित हुआ २ प्रसन्न मन वाला तू फिर मेरा वही यह रूप देख ॥ ४९ ॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा, स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं, भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

संजय बोला यह कह कर श्री कृष्ण ने अर्जुन को अपना रूप दिखाया और इस डरे हुए को पुनः सौम्य आकार वाला होकर महात्मा ने आश्वासन दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेता प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्जुन बोला—हे जनार्दन ! तेरे इस सौम्य रूप को देख कर अब मैं प्रसन्न चित्त हूं और स्वस्थता को प्राप्त होता हूं ॥ ५१ ॥

श्री भगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

मेरे इस रूप को जो तू ने देखा है देखना अत्यन्त कठिन है। देवता भी नित्य इस रूप के दर्शनाभिलाषी हैं ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

जैसा तुम ने मुझे देखा है इस प्रकार का न मैं वेदों से, न तप से, न यज्ञों से देखा जा सकता हूँ ॥ ५४ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार मैं अनन्य भक्ति से ही जाना और देखा जा सकता हूं, और हे परन्तप ! मैं तत्त्व से प्रवेश किया जा सकता हूँ (ठीक २ जानने से मैं मिल सकता हूँ) ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमोमद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन ! जो मेरा भक्त मेरे लिये कर्म करता है और जिसका मैं ही परम प्रिय हूँ और जो इच्छा से रहित है और जो सब प्राणियों में राग द्वेष से रहित है वह मुझ को प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

इति श्री मद्भगवद्गीता विश्व रूप दर्शन योगो नाम एकादशोऽध्यायः ।

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—इस प्रकार सदा योग में युक्त जो भक्त तुम को उपासते हैं और अचर अव्यक्त को उपासते हैं उन में कौन विशेष योग को जानने वाले हैं ॥ १ ॥

श्री भगवानुवाच ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्री भगवान् बोले । मेरे में मन लगा कर जो नित्य युक्त परम श्रद्धा से मुझे उपासते हैं वे योग में उत्तम माने गये हैं ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवंति मा मेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

जो इन्द्रियों के समूह को वश में करके अचर, अकथनीय, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, निर्विकार, अचल और स्थिर को उपासते हैं जो सर्वत्र समबुद्धि वाले हैं, जो सब भूतों के हित में रत हैं वे मुझ को ही प्राप्त होते हैं ॥ ३, ४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

उन अव्यक्त में आसक्त चित्त वाले पुरुषों को क्लेश अधिक होता है क्योंकि देहवालों से अव्यक्त गति कठिनता से पाई जाती है ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

जो सब कामों को मेरे अर्पण कर के मेरे परायण हुए अनन्य योग से ध्यान से मुझे उपासते हैं, उन मुझ में लगाये हुए चित्त वालों का इस मृत्युरूपी संसार सागर से शीघ्र ही हे पार्थ ! मैं उद्धार करने वाला होता हूँ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मुझ में ही तू मन धर, मेरे में बुद्धि लगा इस के अनन्तर मुझ में ही तू निवास करेगा इस में सन्देह नहीं । ८ ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

यदि तू मुझ में चित्त को ठहराने को समर्थ नहीं है तो हे धनंजय ! अभ्यास योग से मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर । ९ ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपिकर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तुम अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मेरे आश्रित काम कर। मेरे लिये काम करते हुए भी तू सिद्धि को प्राप्त होगा। १० ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

यदि तुम यह करने को भी असमर्थ हो तो मेरे योग को आश्रय करके अपने आप को वश में कर के सब कामों के फल का त्याग कर।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानंविशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥ १२ ॥

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान बढ़ कर है, ध्यान से कर्म के फल का त्याग श्रेष्ठ है, त्याग के अनन्तर शांन्ति होती है। १२ ।

अद्वेष्टासर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तःस मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो पुरुष न द्वेष करने वाला, सब भूतों में मैत्री करने वाला, करुणा वाला, ममता और अहंकार से रहित, सुख और दुःख को समान जानने वाला और क्षमा वाला, सदा संतुष्ट, योगी, यत्नशील, दृढ़ निश्चय वाला, जिसने मन और बुद्धि मेरे में अर्पण करदी है ऐसा जो पुरुष मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है। १३, १४ ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ४ ॥

वह क्षेत्र जो जैसा, जिस विकार वाला, जिस से और जो और वह जो जो प्रभाव वाला है वह संक्षेप से मेरे से सुन । ४ ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥

ऋषियों ने निश्चय युक्तियों वाले ब्रह्म सूत्रों के पदों से, और भिन्न २ छन्दों से बहुत प्रकार से गाया है । ५ ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥ ६ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकार मुदाहृतम् ॥ ७ ॥

महाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त, दश इन्द्रियां और एक (मन) और पांच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना और धृति विकार सहित संक्षेप से क्षेत्र बतलाया गया है । ६,७ ।

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ८ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १० ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ११ ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १२ ॥

मान से रहित, दम्भ से रहित, हिंसा से रहित शांन्ति रखना, सरलता, आचार्य की सेवा करना, पवित्र रहना, आत्मा को वश में करना, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार का न होना, जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, रोग, दुःख इन में दोषों का बारंबार देखना, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में न लगाव और प्रेम न करना, इष्ट अनिष्ट की प्राप्तियों में सदा एक मन रहना, अनन्य योग से मेरे में न बदलने वाली भक्ति एकान्त देश में वास, मनुष्यों के संग में अप्रीति, आत्मा के ज्ञान में नित्यता, तत्त्वज्ञान के अर्थ को देखना यह ज्ञान कहा गया है, और जो इस से अन्य है वह अज्ञान है। ८, ९, १०, ११, १२।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १३ ॥

जो ज्ञेय है वह है वह कहूँगा जिस को जान कर अमृत को भोगता है वह परब्रह्म अनादि है, वह न सत्, न असत्, कहा सकता है। १३।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥

वह सब ओर हाथ पाओं वाला, सब ओर नेत्र शिर मुख वाला, सब ओर कान वाला, वह संसार में सब को घेरे हुए स्थित है ॥ १४ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १५ ॥

सब इंद्रियों के गुणों से चमकने वाला, सब इंद्रियों से रहित, असक्त सब को धारण करने वाला, निर्गुण और गुणों के भोगने वाला ॥ १५ ॥

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १६ ॥

सब भूतों के बाहिर और अन्दर, चर और अचर है । सूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय, वह दूर और समीप है ॥ १६ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभृत् च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १७ ॥

भूतों में न बटा हुआ बटे हुए के समान स्थित है । वह सब भूतों का स्वामी जानना चाहिये, वह सब को ग्रसने वाला और उत्पन्न करनेवाला है

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १८ ॥

वह ज्योतियों का भी ज्योति है, वह अंधेरे से परे कहा गया है, वह ज्ञान है, ज्ञेय है, वह ज्ञान से पहुंचने योग्य है, वह सब के हृदयों में रहता है ॥ १८ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १९ ॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहे गए हैं । मेरा भक्त इस को जान कर मेरे भाव को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ २० ॥

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तू अनादि ही जान और विकारों को और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान ॥ २० ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २१ ॥

कार्य और कारण के करने में प्रकृति हेतु कही गई है और सुख दुःखों के भोगने में पुरुष हेतु कहा गया है ॥ २१ ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २२ ॥

पुरुष प्रकृति में स्थित निश्चय पूर्वक प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है, गुणों में संग इस की उच्च नीच योनियों में जन्म का कारण है।

उपद्रष्टानुमंता च भर्ताभोक्तामहेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २३ ॥

इस देह में जो परम पुरुष साक्षी, अनुमति देने वाला पालने वाला, भोगने वाला, महेश्वर है वह परमात्मा भी कहा गया है ॥ २३ ॥

यः एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २४ ॥

जो इस प्रकार पुरुष को और गुणों सहित प्रकृति को जानता है वह सर्वथा रहता हुआ भी फिर जन्म को धारण नहीं करता है ॥ २४ ॥

ध्यानेनात्मनिपश्यंति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्येसांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २५ ॥

कई पुरुष से अपने अन्दर आत्मा से परमात्मा को देखते हैं, कई सांख्ययोग से और दूसरे कर्म योग से ॥ २५ ॥

अन्येत्वेवमजानंतः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २६ ॥

दूसरे इस को न जानते हुए दूसरों से सुन कर उपासते हैं वे भी सुने हुए में परायण मृत्यु को तर ही जाते हैं ॥ २६ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २७ ॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ ! जितने भी कुछ पदार्थ स्थावर और जंगम उत्पन्न होते हैं वे तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से जान ॥ २७ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥ २८ ॥

सब भूतों में सम रहते हुए परमात्मा को जो देखता है वह देखता है जो परमात्मा सब के नाश होने पर भी अविनाशी है ॥ २८ ॥

समं पश्यहि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
नहिनस्त्यात्मनात्मानं ततो यातिपरांगतिम् ॥ २९ ॥

सर्वत्र समवस्थित परमात्मा को सम देखता हुआ अपने आप से अपने आप को हनन नहीं करता है वह परम गति को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यःपश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ३० ॥

जो कामों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्त्ता देखता है, वह देखता है ॥ ३० ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
यत एव च विस्तारंब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३१ ॥

जब भूतों के पृथक् भाव को एक में स्थित देखता है और उसी के विस्तार को देखता है तब ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥ ३२ ॥

हे कुन्ती के पुत्र ! यह निर्विकार परमात्मा अनादि होने से और निर्गुण होने से शरीर में रहता हुआ भी न करता है न लिप्त होता है ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३३ ॥

जैसे सर्व व्यापक आकाश सूक्ष्म होने से लिप्त नहीं होता है वैसे देह में सर्वत्र स्थित परमात्मा लिप्त नहीं होता है ॥ ३३ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३४ ॥

हे भारत ! जैसे एक सूर्य इस समस्त जगत् को प्रकाशित करता है वैसे ही क्षेत्र का स्वामी इस सारे क्षेत्र को प्रकाशित करता है ॥ ३४ ॥

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञान चक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांन्ति ते परम् ॥ ३५ ॥

जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को ज्ञान दृष्टि से देखता है और भूतों की प्रकृति से छूटने को जो जानते हैं वे परमात्मा को प्राप्त होते हैं ।

इति श्री मद्भगवद्गीता क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

चतुर्दशोऽध्यायः ।

श्री भगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञान मुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—ज्ञानों में परम उत्तम ज्ञान को फिर तुम्हें कहता हूं, जिस को जान कर सब मुनि परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

इदं ज्ञान मुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता ।
सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥ २ ॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे समान स्वभाव को प्राप्त हुए वे संसार में भी जन्म नहीं लेते हैं और न प्रलय काल में दुखी होते हैं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

मेरी योनि प्रकृति है मैं उस में गर्भ धारता हूं उस से हे भारत ! सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे कुन्ती के पुत्र ! सब योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं उन की योनि प्रकृति है मैं बीज देने वाला पिता हूं ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रकृति से उत्पन्न होने वाले अविनाशी जीवात्मा को देह में बांधते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप अर्जुन ! उन में सत्त्वगुण निर्मल होने से प्रकाशक और दुःख से रहित है । वह सुख के संग से और ज्ञान के संग से (जीवात्मा को) बांधता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

रजोगुण रागवाला जान, इस से तृष्णा और संग की उत्पत्ति होती है हे कुन्ती के पुत्र ! वह कर्म के संग से जीवात्मा को बांधता है ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान वह सब देह धारियों को मोह लेने वाला है । हे भारत ! वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बांधता है ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे भारत ! सत्त्वगुण सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में और तमोगुण ज्ञान को ढांप कर प्रमाद में लगाता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे भारत ! सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण को दबाकर प्रकट होता है । इसी प्रकार रजोगुण सत्त्वगुण और तमोगुण को और तमोगुण सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर प्रकट होता है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

जब इस देह के सब द्वारों में प्रकाशरूपी ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह सत्त्वगुण बढ़ा हुआ जानो ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ ! रजोगुण बढ़ने पर, लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति, इच्छा उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायंते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन ! तमोगुण के बढ़ने पर प्रकाश का न होना, प्रवृत्ति न होना, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

जब देहधारी सत्त्वगुण के बढ़ने पर मरण को प्राप्त होता है तब ज्ञानियों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुण में मर कर कर्म सङ्गियों में उत्पन्न होता है और तमोगुण में मरता हुआ मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

अच्छे कर्मों का सात्विक और निर्मल फल कहते हैं, रजोगुण का फल दुःख है और तमोगुण का फल अज्ञान है ॥ १६ ॥

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेवच ॥१७॥

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से लोभ ही होता है। तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छंति सत्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वगुण में स्थित ऊपर जाते हैं, रजोगुण वाले मध्य में ठहरते हैं तमोगुण वाले नीचे गुणों के स्वभाव वाले नीचे जाते हैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परंवेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जब द्रष्टा गुणों से अन्य कर्त्ता को नहीं देखता है और गुणों से पर को जानता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देह से उत्पन्न होने वाले इन तीन गुणों को उलांघ कर जीवात्मा जन्म मृत्यु और वृद्धावस्था से मुक्त हुआ २ अमृत को भोगता है ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतान्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोला—हे प्रभो ! किन चिन्हों से इन तीन गुणों को उघांघा हुआ होता है और किस आचार वाला कैसे इन तीन गुणों को उलांघता है ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

श्रीभगवान् बोले—हे पाण्डव ! प्रवृत्त हुए प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह को जो द्वेष नहीं करता है और निवृत्त हुओं की इच्छा नहीं करता है ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तंत इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

उदासीन के समान ठहरा हुआ जो गुणों से चलायमान नहीं किया जा सकता है किन्तु गुण वर्तते हैं इस प्रकार जो स्थिर रहता है और डोलता नहीं है, जिस को सुख और दुःख सम है, अपने में स्थित है जिस को मट्टी, पत्थर और सोना तुल्य है जिस को प्रिय और अप्रिय तुल्य हैं, जो धैर्य्य वाला है जो अपनी निन्दा और स्तुति में तुल्य है, जो मान और अपमान में तुल्य है, जो मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष में तुल्य है जिस ने सब कर्मों के आरम्भ को त्याग दिया है वह गुणातीत कहलाता है। २३,२४,२५

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

मुझ को जो अनन्य भक्तियोग से सेवता है वह इन गुणों को उल्लङ्घन कर के ब्रह्म भाव के योग्य होता है ॥ २३ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि मैं ब्रह्म का, अविनाशी मोक्ष का सदा रहने वाले धर्म का और अन्तर रहित सुख का आश्रय हूं ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।

पञ्चदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवान बोले—ऊपर को जड़ें नीचे शाखें, इस अश्वत्थ को अविनाशी कहते हैं जिस के पत्ते वेद हैं जो इस को जानता है वह वेद वेत्ता है ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि, कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके ॥२॥

उस की शाखें ऊपर और नीचे फैली हुई हैं जो गुणों से पुष्ट हैं और विषय जिन के पत्ते हैं, नीचे जड़ें फैली हुई हैं जो मनुष्यलोक में कर्मों से बन्धी हुई हैं ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनंसुविरूढमूल, मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं, यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये, यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

• इस (संसाररूपी वृक्ष) का इस संसार में वैसा रूप नहीं पाया जाता है, न अन्त पाया जाता और न इस की स्थिति है; इस दृढ़ मूल वाले अश्वत्थ को वैराग्यरूपी दृढ़ शस्त्र से छेदन करके फिर वह पद ढूंढना चाहिये जिस में जाकर फिर लौटते नहीं हैं, मैं उसी आदि पुरुष को प्राप्त होता हूं जिस से यह पुरानी प्रवृत्ति फैली है ॥ ३, ४ ॥

निर्मानमोहाजितसङ्गदोषा, अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

मान मोह से रहित, सङ्गदोषों को जिन्हों ने जीत लिया है, अध्यात्म में लगे हुए, कामनाओं से निवृत्त, सुख दुःख आदि नाम वाले द्वन्द्वों से विमुक्त, मोह से रहित पुरुष उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

उस को न सूर्य्य प्रकाशित करता है न चन्द्रमा और न अग्नि, जिस को जाकर लौटते नहीं हैं वह मेरा परम धाम है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

इस संसार में मेरा ही अंश जीवस्वरूप सनातन है (यह जीव) प्रकृति में स्थित इन्द्रियों को और छठवें मन को खींचता है ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोतियच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

जब (शरीर का) स्वामी शरीर को प्राप्त होता है और जब निकलता है तब इन को (इन्द्रियों को) ग्रहण कर के जाता है जैसे वायु स्थान से गन्धों को (ले जाता है) ॥ ८ ॥

श्रोत्रंचक्षुःस्पर्शनं च रसनं घ्राणमेवच ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन को आश्रय कर के यह (जीवात्मा) विषयों का सेवन करता है ॥ ९ ॥

उत्क्रामंतं स्थितंवापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः ॥ १० ॥

निकलते हुए को अथवा स्थित हुए को वा भोगते हुए को वा गुणों से मिले हुए को मूढ़ पुरुष नहीं देखते हैं ज्ञानचक्षु वाले ही देखते हैं ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः ॥ ११ ॥

यत्न करते हुए योगी लोग इस को अपने आप में स्थित देखते हैं। मलिन अन्तःकरण वाले मन्दमति लोग इस को यत्न करते हुए भी नहीं देखते हैं ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजोजगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धिमामकम् ॥ १२ ॥

जो सूर्य्य में तेज है जो सकल जगत् को प्रकाश करता है, जो चन्द्रमा में है, जो अग्नि में भी है वह तेज मेरा जान ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चोषधीः सर्वाःसोमोभूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

पृथिवी में प्रवेश कर के मैं अपने बल से भूतों को धारण करता हूं और रसवाला सोम हो कर सब ओषधियों को पुष्ट करता हूं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनांदेहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

मैं वैश्वानर हो कर प्राणियों के देह में आश्रय किया हुआ प्राण तथा अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य) को पकाता हूं ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो, मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम् ॥ १५ ॥

मैं सब के हृदय में स्थित हूं, मेरे से स्मृति ज्ञान और उन का अभाव होता है, सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूं, वेदान्त के बनाने वाला और वेद वेत्ता मैं ही हूं ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौलोके क्षरश्चाक्षर एवच ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

लोक में यह दो पुरुष क्षर और अक्षर हैं, क्षर सब भूत हैं अक्षर कूटस्थ (न बदलने वाला) कहा गया है ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
योलोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययईश्वरः ॥ १७ ॥

जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश कर के धारण करता है और उत्तम पुरुष अन्य है वह परमात्मा भी कथन किया गया है ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

जिस लिये मैं क्षर को उलांघे हुए अक्षर से भी उत्तम हूं इस लिये इस लोक में और वेद में प्रसिद्ध पुरुषोत्तम हूं ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे भारत ! जो इस प्रकार मोह से रहित मुझ को पुरुषोत्तम जानता है वह सब का जानने वाला है सब भावना से मुझ को भजता है ॥१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तंमयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

हे निष्पाप अर्जुन ! यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मैं ने कहा है इस को जान कर हे भारत ! पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है ॥ २० ॥

इति श्री मद्भागवद्गीता पुरुषोत्तम योगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।

षोड़शोऽध्यायः ।

श्री भगवानुवाच ।

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—अभय, मन की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ता, दान, दम (इन्द्रियों को रोकना) और यज्ञ, स्वाध्याय, तप और निष्कपटता ॥१

अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली का अभाव, प्राणियों पर दया करना, लोभ का न होना, नम्रता, लज्जा, चंचलता का अभाव ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज, क्षमा, धैर्य्य, शौच, किसी से द्वेष न करना, अभिमान न करना, हे भारत ! यह दैवी संपदा के साथ उत्पन्न हुए के होते हैं ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भ, दर्प और अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान, हे पार्थ ! यह आसुरी संपदा के साथ उत्पन्न हुए के होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

दैवी संपद मोक्ष के लिये और असुरी बन्धन के लिये मानी गई है । हे पाण्डव ! तू शोक मत कर क्योंकि तू दैवी संपदा के साथ उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एवच ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुर पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

इस लोक में दैवी और आसुरी दो प्रकार की भूतों की सृष्टि है । दैवी विस्तार पूर्वक कही गई है, अब हे पार्थ ! असुरी को मुझ से सुन ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर लोग प्रवृत्ति और निवृत्त को नहीं जानते हैं । उनमें न पवित्रता, न आचार न ही सत्य होता है ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतकिमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे जगत् को असत्य और बिना किसी मूल के और ईश्वर का बनाया

हुआ नहीं कथन करते हैं । स्त्री पुरुष से उत्पन्न हुआ मानते हैं । काम ही इस का कारण है और क्या ? (अर्थात् और कुछ नहीं) ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्यनष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस दृष्टि को धारण करके नष्ट आत्मा वाले, अल्प बुद्धि वाले और क्रूर कर्मों वाले और शत्रु जगत् के नाश के लिये उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राह्यप्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय करके दंभ, मान और मद से युक्त हुए झूठी बातों को मोह से ग्रहण करके वे अपवित्र व्रतों वाले प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

अपरिमित चिन्ता को, मरण ही जिस का अन्त है आश्रय करके, काम के भोग को परम उद्देश्य जानते हुए, बस इतना ही है इस निश्चय वाले ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

आशा रूपी सैकड़ों जालों में बंधे हुए, काम और क्रोध में परायण कामों के भोग के लिये अन्याय से धन संचय की इच्छा करते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

यह आज मैं ने प्राप्त कर लिया, इस मनोरथ को प्राप्त कर लूंगा। यह धन मेरा है और फिर भी यह धन मेरा होगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

वह शत्रु मैं ने मार लिया है और औरों को भी मार डालूंगा। मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, मैं सुखी हूँ ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

मैं धनवान् हूँ, कुलीन हूँ, मेरे सदृश और कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, प्रसन्न होऊंगा इस प्रकार अज्ञान से मोहित हुए ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेक चित्त से घबराए हुए मोहजाल में फंसे हुए, काम के भोगों में आसक्त हुए वे अपवित्र नरक में पड़ते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अपने आप बड़ा बनने वाले, ढीठ, धन के मान और मद से भरे हुए वे नाम मात्र के यज्ञों से अविधि पूर्वक दम्भ से यज्ञ करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध को आश्रय किये हुए निन्दक मुझे अपने और दूसरों के देह में द्वेष करते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु ॥ १९ ॥

उन द्वेष करने वाले अशुभ, नीच और क्रूर पुरुषों को संसारों में मैं निरन्तर आसुरी योनियों में डालता हूँ ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे कुन्ती के पुत्र ! आसुरी योनि को प्राप्त हुए मूढ़ जन्म २ में मुझे न प्राप्त होकर अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत् ॥ २१ ॥

आत्मा को नाश करने वाला काम, क्रोध तथा मोह यह तीन प्रकार का नरक का द्वार है इस लिये इन तीनों को त्याग ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिनरः ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परांगतिम् ॥ २२ ॥

हे कुन्ती के पुत्र ! इन तीनों अन्धकार के द्वारों से छूटा हुआ अपने हित का अनुष्ठान करता है तब परम गति को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमाप्नोति न सुख न परांगतिम् ॥ २३ ॥

जो शास्त्र विधि को छोड़ कर स्वेच्छा से वर्तता है वह सिद्धि, सुख और परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इस लिये करने, न करने की व्यवस्था में शास्त्र ही तेरे लिये प्रमाण है। उसी शास्त्र के विज्ञान को जान कर तू कर्म करने योग्य है ॥ २४ ॥

इति श्री मद्भागवद्गीता दैवासुर सम्पद्विभाग योगो नाम षोड़शोऽध्यायः।

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच।

ये शास्त्र विधिमुत्सृज्ययजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तुका कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण! जो लोग शास्त्र की विधि को छोड़ कर श्रद्धा से युक्त हुए यज्ञ करते हैं उन की स्थिति कैसी है? सत्वगुण, रजोगुण वा तमोगुण १

श्री भगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सास्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्री भगवान् बोले—सत्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी स्वभाव से उत्पन्न हुई तीन प्रकार की मनुष्यों की श्रद्धा होती है उस को तू सुन ॥२॥

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धाभवति भारत।
श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत! सब की अपने अन्तःकरण के अनुकूल ही श्रद्धा होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है जो जिस श्रद्धा वाला है वह वैसा है ॥

यजते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक लोग विद्वानों को पूजते हैं, राजस लोग यक्ष और राक्षसों को, तामस लोग भूतों और प्रेतों को पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

दम्भ और अहंकार से युक्त, काम राग के बल से युक्त हुए जो पुरुष शरीर में स्थित भूतों के समुदाय को और शरीर के अन्दर स्थित मुझको क्षीण करते हुए घोर तप करते हैं उनको असुरों के निश्चय वाले जानो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहार भी सब का तीन प्रकार का प्रिय होता है यज्ञ, तप तथा दान, उन के इस भेद को तू सुन ॥ ७ ॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः
रस्याः स्निग्धाःस्थिराहृद्याआहाराःसात्त्विकप्रियः ॥ ८ ॥

आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख रुचि को बढ़ाने वाले, रस वाले, चिकने, स्थिर फल वाले, हृदय को प्रिय ऐसे आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय हैं ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, नमकीन, अत्यन्त गरम, तीक्ष्ण, रुक्ष और देह को जलाने वाले ऐसे आहार राजस जन को प्रिय हैं और जो (पीछे से) दुःख शोक और रोग के देने वाले हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

जिसको एक प्रहर (पकाने में) बीत गया हो रस रहित दुर्गन्धि वाला तथा बासी और जो झूठा और जो अपवित्र भोजन तामस लोगों को प्रिय है ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

जो यज्ञ, यज्ञ करना कर्तव्य धर्म है ऐसा मन में संकल्प करके फल की अभिलाषा से रहित विधि पूर्वक किया जाता है वह सात्त्विक होता है

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ ! फल की इच्छा के लिये वा दिखलावे के लिये जो यज्ञ किया जाता है उस यज्ञ तू राजस जान ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधि हीन, अन्न दान से शून्य, मन्त्रों से हीन, दक्षिणा से रहित और श्रद्धा से रहित ऐसे यज्ञ को तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव, द्विज, गुरु और विद्वानों की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर का तप कहलाता है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्य सत्य प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

जो वाक्य कठोरता रहित है, सत्य, प्रिय और हितकर है और स्वाध्याय का अभ्यास है वह वाणी का तप कहलाता है ॥ १५ ॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, मन को रोकना, भावना की शुद्धि यह मन का तप कहाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।

अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

वह तीन प्रकार का तप जब परम श्रद्धा से फल की अभिलाषा से रहित एकाग्रचित्त वाले मनुष्यों से किया जाता है तब उस को सात्त्विक कहते हैं ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सत्कार, मान और पूजा के लिये दम्भ से जो तप किया जाता है वह तप इस संसार में चञ्चल और अनिश्चित राजस कहा गया है ॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

हठ के आग्रह से अपने आप को पीड़ा देकर जो तप किया जाता

है कि पर पुरुषों के उखाड़ने के अर्थ किया जाता है वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशेकाले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

देने योग्य जो दान है इस प्रकार का यह अनुपकारी को दिया जाता है, देश, काल और पात्र में दिया हुआ दान सात्विक कहा गया है ॥२०॥

यत्तुप्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य चापुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

और जो प्रत्युपकार के लिये अथवा फल को उद्देश्य रख कर और फिर क्लेश से दिया जाता है वह राजस माना गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान बिना देश काल और अपात्रों को बिना सत्कार किये अवज्ञा पूर्वक दिया जाता है वह तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधिः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ओ, तत्, सत् यह तीन प्रकार की परमात्मा का नाम कहा गया है उस से पहिले ब्राह्मण, वेद और यज्ञ बनाए गये हैं ॥ २२ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

इस लिये वेद वादियों की विधि से कही हुई यज्ञ, दान और तप की क्रियाएं निरन्तर 'ओ३म्' का उच्चारण कर के प्रवृत्त होती है ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्चविविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

'तत्' का उच्चारण कर के मोक्ष चाहने वालों से फल की इच्छा न कर के यज्ञ, तप, दान और अनेक प्रकार की क्रियाएं की जाती हैं ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

हे पार्थ ! सद्भाव में और साधुभाव में "सत्" का प्रयोग किया जाता है तथा शुभ कर्म में "सत्" शब्द प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञ, तप और दान में स्थिति यह "सत्" कहा गया है उस के लिये (परमात्मा के लिये) जो कर्म किया जाता है वह भी "सत्" कहा गया है ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

अश्रद्धा से हवन किया हुआ, दिया हुआ और जो कुछ और कर्म किया है हे पार्थ ! वह "असत्" कहलाता है । वह न परलोक में और नहीं इस लोक में फलता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता श्रद्धात्रय विभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ॥

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे महाबाहो ! हे इन्द्रियों के स्वामिन् ! हे केशी के मारने वाले ! मैं संन्यास और त्याग का पृथक् २ तत्त्व जानना चाहता हूं ॥

श्री भगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—काम्य कर्मों के त्यागने को विद्वान् लोग संन्यास जानते हैं और बुद्धिमान् पुरुष समस्त कर्मों के फल त्याग को त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

दोषवाला कर्म त्यागने योग्य है कई एक बुद्धिमान् पुरुष ऐसा कहते हैं और दूसरे यह कथन करते हैं कि यज्ञ, दान और तप इन कर्मों को नहीं त्यागना चाहिये ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! त्याग के विषय में मेरे निश्चय को सुन ! हे पुरुषों में श्रेष्ठ ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ दान और तप कर्मों को त्यागना नहीं चाहिये, किन्तु करना ही चाहिये क्योंकि यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं ॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! यह कर्म भी फल और संग को छोड़ कर करने चाहियें। यह मेरा निश्चित उत्तम सिद्धान्त है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है । मोह से उस का त्याग तामस कथन किया गया है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

शरीर क्लेश के भय से, यह दुःख है ऐसा जान कर जो कर्म का त्याग करता है वह राजस को त्याग के फल को नहीं पाता है ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! करने योग्य जो काम संग और फल का त्याग कर नियमपूर्वक किया जाता है वह त्याग सात्त्विक माना गया है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

सत्त्व गुण से व्याप्त, बुद्धि से युक्त और सब संशयों के छूट जाने से

त्यागी पुरुष अकुशल कर्म में द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता ॥ १० ॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

देहधारी पुरुष समस्त कर्मों के त्यागने को समर्थ नहीं है, किन्तु जो कर्मों के फल का त्यागी है वह त्यागी कहा गया है ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित यह तीन प्रकार का कर्म का फल मर कर अत्यागियों को होता है, त्यागियों को कभी नहीं ॥ १२ ॥

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

हे महाबाहो ! सब कर्मों की सिद्धि के लिये सांख्य सिद्धान्त में कथन किये गए इन पांच कारणों को मेरे से सुन ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥

शरीर, कर्त्ता, भिन्न २ प्रकार की इन्द्रियां, कई प्रकार की चेष्टाएं और पांचवां दैव ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभि र्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

शरीर, वाणी और मन से जो काम शुभ अथवा अशुभ मनुष्य करता है उस के पांच हेतु होते हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

उस में ऐसा होने पर जो केवल आत्मा को कर्ता देखता है वह मन्द बुद्धि पुरुष अपनी निर्बुद्धिता से ठीक नहीं देखता है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हंति न निबध्यते ॥ १७ ॥

जिस पुरुष की अहंभाव [अहंकारी स्वभाव] नहीं और जिस की बुद्धि लिप्त नहीं होती है वह पुरुष मार कर भी इन लोकों को नहीं मारता है और न बन्धता है ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेय परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह तीन प्रकार के कर्मों के प्रेरक हैं। करण, कर्म और कर्त्ता यह तीन प्रकार के कर्म संग्रह हैं ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञान, कर्म और कर्त्ता तीन प्रकार के गुणों के भेद से सांख्य शास्त्र में कथन किये गए हैं उन को भी तू यथावत् सुन ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

जिस ज्ञान से जो विभाग वाले सब भूतों में बटा हुआ नहीं है एक अव्यय भाव को देखता है उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

और जो ज्ञान पृथक् करके सब भूतों में भिन्न २ प्रकार के नाना भावों को जानता है उस ज्ञान को तू राजस जान ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

और जो एक कार्य में परिपूर्ण के समान लगा हुआ है और जो ज्ञान मिथ्या के समान युक्ति रहित और तुच्छ है वह ज्ञान तामस कहा गया है

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफल प्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

जो कर्म नियम पूर्वक संग से रहित फल की इच्छा न करने वाले से विना राग द्वेष से किया जाता है वह कर्म सात्त्विक कहा गया है ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

जो कर्म कामना की इच्छा करने वाले से वा अहंकार वाले से किया जाता है और जो बड़े परिश्रम से होने योग्य है वह कर्म राजस कथन किया गया है ॥ २४ ॥

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहा दारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

फल, क्षय, हिंसा और पौरुष इन की अपेक्षा न कर के जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

संग से रहित, गर्व तथा अभिमान से रहित, धैर्य और उत्साह से युक्त, सिद्धि तथा असिद्धि में विकार से रहित ऐसा कर्त्ता सात्त्विक कथन किया गया है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

राग वाला, कर्म का फल चाहने वाले, लोभी, मारने के स्वभाव वाला, अपवित्र, हर्ष शोक से युक्त ऐसा कर्त्ता राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अयुक्त (जो किसी काम में तत्पर न रहे) गंवार, ढीठ, धूर्त, दूसरों के ठगने वाला, आलसी, विषादी, दीर्घसूत्री (शीघ्र वाले काम का चिर काल में न करने वाला) ऐसा कर्त्ता तामस कहा गया है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेनधनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! पृथक् २ कर के और सम्पूर्णता से वर्णन किये हुए बुद्धि और धृति के भेद को जो गुण से तीन प्रकार है सुनो ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च यो वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

हे पार्थ ! प्रवृत्ति और निवृत्ति, करने योग्य और न करने योग्य, भय और अभय, बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि जानती है वह सात्त्विक की है ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

जिस से धर्म और अधर्म को, कार्य और अकार्य को ठीक २ नहीं जानता है हे पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

जो बुद्धि तमोगुण से ढकी हुई अधर्म को धर्म मानता है और सब विषयों को उलटा मानता है वह बुद्धि हे पार्थ ! तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्वकी ॥ ३३ ॥

जिस योग से दृढ़ता वाला धृति से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है हे पार्थ ! वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! जिस धृति से मनुष्य फल की इच्छा वाला संग से धर्म, अर्थ काम को धारण करता है हे पार्थ ! वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

जिस से दुर्बुद्धि पुरुष स्वप्न, भय, शोक विषाद और मद को नहीं छोड़ता है हे पार्थ ! वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! अब मुझ से तीन प्रकार का सुख सुन जिस में (सुख में) अभ्यास से रमण करता है और दुःख के अन्त को प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्वकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

जो पहिले विष के समान होता है परिणाम में अमृत के तुल्य प्रतीत है, वह सुख सात्विक कहा गया है और अपनी बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न हुआ है ॥ ३८ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

विषय और इन्द्रिय के संयोग से जो सुख पहिले अमृत के समान और परिणाम में विष के समान होता है वह सुख राजस कहा गया है ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो सुख आरम्भ में और अन्त में आत्मा को मोह करने वाला हो और निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ हो वह तमोगुणी सुख कहा गया है ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथिवी में, द्यौ में वा देव लोकों में ऐसा पदार्थ नहीं जो प्रकृति से उत्पन्न हुए इन तीन सत्त्वादि गुणों से रहित हो ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न होने वाले गुणों से भिन्न २ प्रकार बांटे गए हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानंविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, पवित्राता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता यह ब्राह्मण का स्वभाव से उत्पन्न होने वाले कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से भागना, दानशील होना और स्वामीपन का भाव यह क्षत्रिय के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले कर्म हैं ॥४३॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गोओं की रक्षा, व्यापार यह वैश्य के स्वभावज कर्म हैं। सेव करना शूद्र का भी स्वभावज कर्म है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिलभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥४५॥

अपने २ कर्म में लगा हुआ पुरुष सिद्धि को प्राप्त होता है, और अपने कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ पुरुष जिस प्रकार सिद्धि को प्राप्त होता है वह तू सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिस से सब प्राणियों की उत्पत्ति होता है और जिस ने यह सब फैलाया हुआ है अपने कर्म से उस की पूजा कर के मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

भले प्रकार अनुष्ठित किये पर धर्म से अपना गुण रहित धर्म भी श्रेष्ठ है; स्वभाव से नियत कर्म को करता हुआ पुरुष पाप को प्राप्त नहीं होता॥४७

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

हे कुन्ती के पुत्र ! स्वाभाविक कर्म चाहे दोषयुक्त भी हो कभी न त्यागे क्योंकि समस्त काम दोष से व्याप्त हैं जैसे धुएं से अग्नि ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सर्वत्र न फंसी हुई बुद्धिवाला, जीते हुए मन वाला, दूर हुई कामना वाला मनुष्य सर्वोपरि कर्मों से रहित सिद्धि को संन्यास से प्राप्त होता है ।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कुन्ती के पुत्र ! सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार परमात्मा को प्राप्त होता है जोकि ज्ञान की सब से बड़ी निष्ठा है वह तू मुझ से संक्षेप से जान ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

शुद्धबुद्धि से युक्त धीरज से अपने आप को रोक कर, शब्दादि विषयों को त्याग कर और रागद्वेष को दूर करके ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यान योगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

एकान्तसेवी, परिमित भोजन करने वाला, वाणी, शरीर और मन को वश में किये हुए, नित्य ध्यान और योग में लगा हुआ, वैराग्य का आश्रय रखता हुआ । ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

अहंकार, बल, गर्व, काम, क्रोध और लोभ को छोड़ कर ममता रहित शांत हुआ ब्रह्म के भावों के योग्य होता है । ५३ ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्म हुआ, प्रसन्न चित्त वाला न शोक करता है न इच्छा करता है, सब भूतों में सम हुआ मेरी परम भक्ति को प्राप्त होता है । ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥५५॥

भक्ति से वह मुझे वास्तव रूप से जानता है जैसा और जो मैं हूं, फिर मुझ को वास्तव रूप से जान कर उस के अनन्तर मुझ में प्रवेश करता है । ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

सब काम को भी सदा करता हुआ मेरे आश्रय हुआ मेरी कृपा से सनातन विकार रहित पद को प्राप्त होता है ॥५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

चित्त से सब कामों को मेरे में छोड़ कर मेरे परायण हुआ बुद्धियोग को आश्रित करके मुझ में चित्त वाला हो । ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

मेरे में चित्त वाला होकर सकल संकटों को तू मेरी कृपा से तर जायेगा और यदि अहंकार से तू सुनेगा तो नाश को प्राप्त हो जायेगा॥५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अहंकार को आश्रय करके जो तू ऐसा मानता है कि मैं युद्ध नहा करूंगा तो यह तेरा निश्चय मिथ्या ही है । प्रकृति तुझे नियुक्त करेगी ॥

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कुन्ती के पुत्र ! मोह से जिस को (युद्ध को) तू नहीं करना चाहता है उसको अपने स्वाभाविक कर्मों से बंधा हुआ तू अवश्यमेव करेगा ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन ! ईश्वर यन्त्र पर आरूढ़ सब भूतों को अपनी प्रकृति से भ्रमण कराता हुआ सब भूतों के हृदय देश में स्थित है ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत ! सब प्रकार से उसकी शरण को ही प्राप्त हो । उसकी कृपा से परमोत्तम शांति और सनातन स्थान को प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार गूढ़ से गूढ़ यह ज्ञान मैं ने तेरे लिये कहा इस को ठीक २ विचार कर जैसा चाहो वैसा करो ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणुमेपरमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितं ॥६४॥

मेरा सब से गुह्य वचन फिर सुन । तुम मेरे अतिशय प्रिय हो इस लिये तेरा हित कहूंगा ॥ ६४ ॥

मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मेरे चित्त वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा भजन करने वाला हो, मुझ को नमस्कार कर, तू मुझ को ही प्राप्त होगा, तेरे लिये मैं सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ तू मेरा प्यारा है ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वांसर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सब धर्मों को छोड़ कर केवल मेरी शरण को प्राप्त हो, शोक मत कर मैं तुम को सब पापों से छुड़ाऊंगा ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

यह तुझे न कभी तपहीन को, न भक्तिशून्य को, और जो न सुनना चाहता हो उस को भी न कहना चाहिये और जो मेरी निन्दा करता है उस को भी न कहना चाहिये ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो पुरुष इस परम गुह्य को मेरे भक्तों में कहेगा वह मेरे में परम भक्ति कर के निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

सब मनुष्यों में उस से कोई मेरा प्रिय करने वाला होगा और न ही मुझे उस से बढ़ कर अन्य संसार में कोई प्यारा होगा ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

हमारे इस धर्मयुक्त संवाद को जो पढ़ेगा उस से मैं ज्ञानरूपी यज्ञ द्वारा द्वारा पूजा हूँगा यह मेरा विचार है ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपिमुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

श्रद्धावाला और निन्दा रहित हुआ जो पुरुष भी सुने वह भी (पापों से) मुक्त हुआ २ पवित्र कर्मों वालों के शुभ लोकों को प्राप्त होता है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

हे पार्थ ! क्या तुमने एकाग्रचित्त से यह सुना, और क्या हे धनंजय ! तुम्हारा अज्ञान रूपी मोह नष्ट हो गया ? । ७२ ॥

अर्जुन उवाच ॥

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गत संदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोला—हे अच्युत ! आप की कृपा से मेरा मोह नष्ट होगया (कर्त्तव्य का) स्मरण आगया, मेरा सन्देह दूर होगया है, मैं स्थित हूँ तेरा वचन करूंगा । ७३ ॥

संजय उवाच ॥

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजय बोला—इस प्रकार मैं ने श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत सम्वाद सुना है जो रोमाञ्च करने वाला है । ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यं महं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

इस परम गुह्य योग को स्वयं साक्षात् योगेश्वर कृष्ण से कहते हुए व्यास की कृपा से मैंने सुना ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुन के अद्भुत पवित्र इस संवाद को बारम्बार स्मरण कर के मैं प्रसन्न होता हूं ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

और हे राजन् ! कृष्ण के उस अति अद्भुत रूप का स्मरण कर २ मुझे बड़ा आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार प्रसन्न होता हूं ॥७७॥

यत्रयोगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

जहां योगेश्वर कृष्ण हैं और जहां धनुष का धारण करने वाला अर्जुन है वहां लक्ष्मी, विजय, वृद्धि और नीति अवश्य है यह मेरी मति है ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।

इत्योंम् ॥